श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण में नीति एवम् आचार

(बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी-एच.डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)
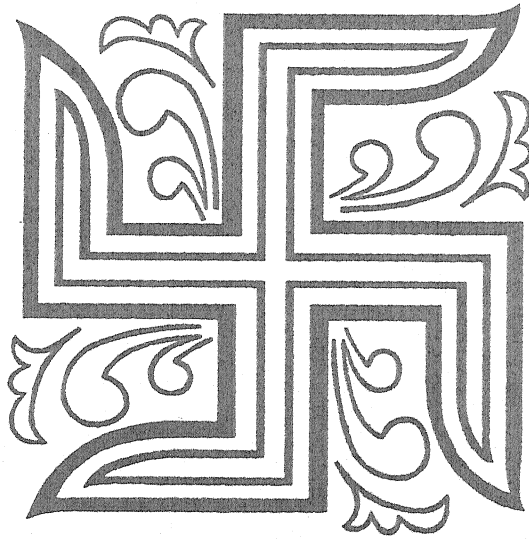
वर्ष- २००६
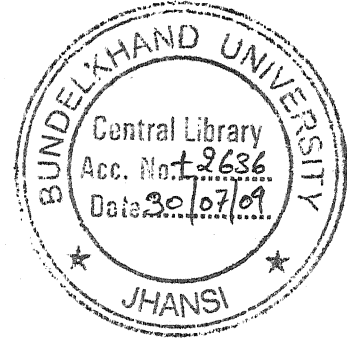
शोध पर्यवेक्षक-
डॉ.शिवरामसिंह गौर
संस्कृत-विभागाध्यक्ष
(अवकाश पर)
प्राचार्य-
श्री हरसहाय जगदम्बासहाय कॉलिज
कानपुर

शोधार्थिनी-
श्रीमती क्षमा द्विवेदी
127/611, जुही, बारादेवी
कानपुर (उ0 प्र0)

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती क्षमा द्विवेदी ने *"श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण में नीति एवं आचार"* शीर्षक से संस्कृत विषय में पी-एच.डी. उपाधि प्राप्ति हेतु मेरे निर्देशन में निर्धारित अवधि तक रहकर कार्य किया है। इनका यह कार्य इनकी मौलिक कृति है जो इनकी शोध दृष्टि की परिचायक है।

मैं इस शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करने की संस्तुति के साथ इनकी सफलता की कामना करता हूं।

- डॉ.शिवरामसिंह गौर
प्राचार्य-
श्री हरसहाय जगदम्बासहाय कॉलिज
कानपुर

वर्ष- २००६

-: प्राक् कथन :-

भारतीय परम्परा में श्री मद् वाल्मीकीय रामायण का महत्त्व सभी ने लगभग एकरूप में स्वीकार किया है। यह ग्रन्थ न केवल महाकाव्य के रूप में उल्लेखनीय है, अपितु इसके नायक के रूप में इसमें श्रीराम के जिस आदर्श जीवन की कल्पना की गई है, वह भी अनुकरणीय और वरेण्य है। मैंने जबसे परास्नातक कक्षा में संस्कृत का अध्ययन किया है तब से मन में यह आकांक्षा थी, कि इस महाकाव्य ग्रन्थ का सम्पूर्णतः अध्ययन करने का अवसर मिले। मैंने शोध कार्य के लिये जब विषय का चयन किया तो यही विषय लिया और श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण में नीति और आचार के सन्दर्भों का अवगाहन किया।

मनुष्य जीवन में नीति और आचार दो ऐसे भाव हैं जिसमें परिकल्पना से ही मनुष्य मनुष्यता का अवगाहन कर पाता है और इनके पालन से ही वह पूर्ण मनुष्य बन पाता है। नैतिकता का यदि परित्याग कर दिया जाय, तो मनुष्य के पास ऐसा कुछ भी नहीं रह जाता जिससे वह अपने आपको व्यक्त कर सके अथवा पारिवारिक और सामाजिक रूप में उसकी कोई पहिचान स्थापित हो सके। जब व्यक्ति नैतिक होता है तब वह नियमों को जान पाता है और तभी वह नैतिक नियमों का पालन करता हुआ आचारवान् बन पाता है।

श्री राम और राम का परिवार इसी दृष्टि से आदर्श और अनुकरणीय है। क्योंकि श्रीराम को न केवल नैतिकता का ज्ञान था अपितु वे पूरी तरह से नैतिक होकर आचार-व्यवहार में सभी सिद्धान्त का पालन भी करते थे। इसीलिए श्री राम नीतिवान् और आचारवान् थे और न केवल तत्कालीन समय में अपितु सभी समय में प्रभावी थे। आज भी उनकी मर्यादा समाज के लिये अनुकरणीय है।

इस शोध प्रबन्ध के निर्देशक के रूप में डॉ. शिवरामसिंह गौर जी मेरे लिए प्रेरणास्पद आचार्य हैं। यह कार्य इनकी ही कृपा का फल है, इसलिये मैं इनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूं इसके साथ ही डॉ. गदाधर त्रिपाठी, रीडर संस्कृत विभाग, श्री अग्रसेन महाविद्यालय, मऊरानीपुर की मैं आभारी हूं, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर इस कार्य को पूर्णता तक पहुंचाया।

अपने परिवार के सभी सदस्य भी मेरे लिये परम आदर्श और स्नेहास्पद हैं, जिन्होंने मुझे इस कार्य की अनुमति प्रदान की और मेरा भरपूर सहयोग किया। मैं इस सबके बीच गौरवान्वित हूं। इस शोध प्रबन्ध के टंकण तथा फोटो कापी करने वाले बन्धुओं का भी धन्यवाद है।

क्षमा द्विवेदी

शोधार्थिनी-

श्रीमती क्षमा द्विवेदी

127/611, जुही, बारादेवी

कानपुर (उ0 प्र0)

श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण में- नीति एवम् आचार

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय
(विषय प्रवेश)

द्वितीय अध्याय
(महाकाव्य परम्परा)

तृतीय अध्याय
(वाल्मीकि रामायण में लोकनीति एवं आचार)

(अ) आश्रम व्यवस्था

(ब) कर्म सिद्धान्त

(स) पारिवारिक सम्बन्ध और उनका नैतिक तथा आचारात्मक स्वरूप

(द) वैयक्तिक नीति एवम् आचार

(य) लोक व्यवहार के सूत्र

चतुर्थ अध्याय
(राजनीति एवं अर्थनीति)

(अ) राजा के गुण दोष

(ब) राजा और प्रजा का नैतिक तथा आचारात्मक सम्बन्ध

(स) जीविकोपार्जन के साधन

(द) राजनीति और अर्थ नीति का सामञ्जस्य

पंचम अध्याय
(वाल्मीकि रामायण में धर्म नीति तथा आचारनीति)

(अ) सामान्य धर्म

(ब) विशेष धर्म

(स) आश्रम धर्म

(द) लोक धर्म तथा परलोक धर्म

(य) पिता माता पति तथा पत्नी धर्म

(र) निष्कर्ष ।

ग्रन्थ संकेत सूची

अ० शा०	अभिज्ञान शाकुन्तलम्
अ० रा०	अरस्तु की राजनीति
आ० वा०	आदि कवि वाल्मीकि
ई०द्वा०उ०	ईशादि द्वादशोपनिषद्
ई०रे०वे०था०	ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थाट
ऋक्	ऋग्वेद
ए०हि०सं०लि०ए	हिस्ट्री ऑफ संस्कृत मैक्डॉनल लिटरेचर
ए०हि०सं०लि०	ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर
ए०हि०ए०सं०लि०	ए हिस्ट्री ऑफ एन्शियण्ट संस्कृत लिटरेचर
ए०हि०हि०ट्र०	एन्शियण्ट इण्डियन हिस्ट्रारिकल ट्रेडीशन
ए०मै०ए०	ए मैनुअल ऑफ इण्डिया
कठ०	कठोपनिषद्

का०प्र०	काव्य प्रकाश
कौ०अ०	कौटिल्य अर्थशास्त्र
गौ०ध०	गौतम धर्मसूत्र
चे०का०इ०	चेन्जिंग कान्सेण्ट ऑफ कास्ट इन इण्डिया
छान्दो०	छान्दोग्योपनिषद्
तै०उ०	तैत्तरीयपनिषद्
द०रू०	दशरूपकम्
द०हि०इ०लि०	द हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर
ध०इ०	धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)
ना०शा०	नाट्य शास्त्र
नी०द०	नीति दर्शन की पूर्वयोठिका
प्र०भा०सा०भू०	प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिक
बु०च०	बुद्धचरितम्

भ०गी०	भगवद्गीता
भ०म०का०	भट्टि महाकाव्य
भा०नी०	भारतीय नीतिशास्त्र
भा०पु०	भागवत महापुराण
भा०नि०वि०	भारतीय नीति का विकास
भा०नी०ई०	भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास
म०स्मृ०	मनु स्मृति
म०भा०	महाभारत
म०भा०आ०	महाभारत में शान्ति पर्व का आलोचनात्मक अध्यन
म०लो०अ०	महाकाव्य युग में लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा
मु०उ०	मुण्डकोपनिषद्
मै०ए०	मैनुअल ऑफ एथिक्स
यजु०	यजुर्वेद
रा०का०स०	रामायण कालीन समाज साहित्य प्रकाशन,नईदिल्ली

१९५८

ला०डि०	द लाइफ डिवायन
व्यास स्मृ०	व्यास स्मृति
व०ध०	वशिष्ठ धर्मसूत्र
वाल्मी०	महर्षि वाल्मीकि
वा०रा०	वाल्मीकि रामायण
वे०रा०व्य०	वेदकालीन राज्य व्यवसाय
सं०सा०स०इ०	संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास
सं०श०कौ०	संस्कृत शब्दकौस्तुम
सं०सा०इ०	संस्कृत साहित्य का इतिहास
सा०द०	साहित्य दर्पण
साम्ययोग	विनोबा भावे
सू०सि०	सूर्य सिद्धान्त
शु०नी०सा०	शुक्रनीतिसार
हि०वि०(१)	हिन्दी विश्वकोष (प्रथम खण्ड)

हि०स०लि०	हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर
हि०स०	हिन्दू सभ्यता
हि०पा०	हिन्दू पालिटी
हि०पा०	हिन्दू पालिटी तृतीय भाग

प्रथम अध्याय

(विषय प्रवेश)

प्रथम अध्याय

मनुष्य के लिये मान्य कलाओं में काव्य कला एक ऐसी विधा है जो न केवल मनुष्य के लिये आनन्द का सृजन करती है अपितु उसके जीवन के लिये नीति और व्यवहार का निर्देश भी करती है। इस सन्दर्भ में यह कथन बहुत प्रसिद्ध है कि सामान्यतः मनुष्य और पशु में कोई विशेष भेद नहीं होता क्योंकि दोनों के बीच में इनकी शारीरिक आकृतियाँ भले ही भिन्न हों किन्तु दोनों की प्रवृत्तियों में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। विद्वान् यह कहते हैं कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन की प्रवृत्तियाँ जैसी पशु में होती हैं वैसी ही मनुष्य में भी होती हैं। भूख लगने पर, निद्रा का समय आने पर, अपने सामने मारक स्थितियाँ आने पर तथा समागम की कामना होने पर जैसा आचरण पशु करते हैं मनुष्य भी वही आचरण करते हैं। भूख लगने पर पशु और मनुष्य समान रूप से भोजन की इच्छा करते हैं, निद्रा का आवेग आने पर दोनों समान रूप से सोते हैं, भय की स्थितियाँ उत्पन्न होने पर मनुष्य और पशु दोनों ही अपने बचाव का प्रयत्न करते हैं और काम के उद्वेग के उत्पन्न होने पर पशु और मनुष्य समान रूप से काम के आलंबन का आश्रय लेते हैं इसलिये सामान्य रूप से यही कहा गया हैं कि मनुष्य और पशु में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

किन्हीं विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन के उपभोग में पशु प्राकृतिक रूप से संयमित होता है। वह क्षुधातृप्ति के बाद भविष्य के लिये भोजन सञ्जोकर नहीं रखता, सावधान होकर और बहुत ही अल्प मात्रा में वह निद्रा लेता है। सिंह और कुत्ते इस अर्थ में इसके उदाहरण हैं कि क्षुधा की तृप्ति हो जाने पर सिंह जैसा

हिंसक पशु भी किसी की हत्या नहीं करता और श्वान हर समय इस प्रकार की निद्रा लेता है जिसमें प्राय: जागता रहता है। भय की स्थिति उत्पन्न होने पर प्राय: यह देखा जा सकता है कि मनुष्य की अपेक्षा पशु अधिक निर्भयता और साहस का परिचय देता है। कामेच्छा की पूर्ति में तो पशु इतना अधिक प्रकृति के बन्धन में बँधा हुआ है जिसमें वह अपने लिये निर्धारित समय के अतिरिक्त कामपूर्ति की ओर ध्यान ही नहीं दे पाता; जबकि मनुष्य इन सबके उपभोग में न केवल स्वच्छन्दता का परिचय देता है अपितु वह अधिकतम मात्रा में इन प्रवृत्तियों में फसा होता है। अपने उदर की पूर्ति होने पर भी मनुष्य न केवल अपने लिये अपितु अपने परिवार के लिये अनन्त साधन सामग्री जुटाता है। पशु की अपेक्षा निद्रा के माध्यम से वह अधिकतम विश्राम की अपेक्षा करता है और भय की स्थिति आने पर अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिकतम मात्रा में अपनी कायरता का प्रदर्शन करता है। इसी तरह से अपनी कामोद्वेग की अवस्था में वह कहीं भी किसी के साथ भी प्रवृत्त होने में संकोच नहीं करता और इसमें वह किसी प्रकार की मर्यादा का ध्यान नहीं रखता। मनुष्य की काम प्रवृत्ति पशुओं से हजारों गुना अधिक उद्वेलक और नियन्त्रित होती है इसलिये यह कहा गया है कि इन प्रवृत्तियों के रहते हुये मनुष्य और पशु समान हैं और ऐसी स्थिति में मनुष्य तभी पशु से श्रेष्ठ है जब वह नीतिवान्, धर्मवान् और संस्कारवान् है।

इसलिये यह कहा जाता है कि साहित्य मनुष्य के लिये न केवल मनोरंजक है अपितु यह एक ऐसा माध्यम है जो मनुष्य को नीति, धर्म, आचार–व्यवहार की शिक्षा देता है और मनुष्य को उसके जीवन जीने की कला सिखाता है।

भारतीय परम्परा में विशेषकर संस्कृत साहित्य की परम्परा में जितने भी साहित्य ग्रन्थों की रचना हुई है, उनका उद्देश्य जहाँ एक ओर मनुष्य के लिये आनन्द प्राप्त कराने का रहा है वहीं दूसरी ओर मनुष्य के जीवन को संस्कारित करने का भी रहा है। संस्कृत के एक लक्षण ग्रन्थकार ने यह लिखा है कि काव्य मनुष्य–जीवन में अनेक प्रकार की प्राप्तियों को देने वाला है, काव्य से यश की प्राप्ति होती है, काव्य से अर्थ की प्राप्ति होती है, काव्य से व्यक्ति को व्यवहार की शिक्षा मिलती है, काव्य अकल्याण को नष्ट करने वाला और कल्याण की प्राप्ति कराने वाला है, काव्य ही मुक्ति का साधन है और काव्य ही रम्य उपदेश प्राप्ति का हेतु है।[1] इसलिये काव्य की परम्परा का ज्ञान, काव्यों का अध्ययन, काव्यों की समालोचना और समीक्षा मानवीय दृष्टि से ऐसी है जो सभी के लिये हितकर और प्रेरणादायी है।

---

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिवृत्तये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे ।। का.प्र. कारिक (२)

(अ) नीति तथा आचार का अभिप्राय

इस दृष्टि से यदि हम प्रारम्भिक काव्य परम्परा से आधुनिक संस्कृत काव्य परम्परा का अवलोकन करें तो हमें यह दिखाई देगा कि प्रारम्भिक काल से ही वैदिक ऋषि और विचारक साहित्य सृजन करते रहे और इससे वे जिस प्रकार की अपेक्षा करते रहे उसका उद्देश्य मनुष्य के जीवन में शुचिता प्राप्त कराने का भी था। इसीलिये प्रारम्भिक साहित्य वैदिक साहित्य में भी नैतिक प्रत्ययों के उन सन्दर्भों का उल्लेख किया गया है जो कहीं न कहीं मनुष्य को श्रेष्ठ मार्ग पर चलने के लिये उत्प्रेरित करते हैं। जैसे कि प्रारम्भ में यह सङ्केत दृष्टिगत होता है कि तब ऋषियों ने मनुष्य जीवन में तप को अधिक महत्ता दी थी और वहाँ पर यह कहा गया था कि ऋत् और सत्य तप के ही अंग हैं। यही इस सृष्टि में सर्वप्रथम उद्भूत हुये। अर्थात् जब इस पृथ्वी पर प्रजापति के द्वारा तप का आचरण किया गया तो उस तपस्या के द्वारा सर्वप्रथम ऋत् और सत्य प्रकट हुए।[१]

यह ऋत् और सत्य और कुछ नहीं था; मनुष्य जीवन के सञ्चालन के लिये एक ऐसा सङ्केत था जिसे उचित और सम्मानित के रूप में कहा जा सकता था। बाद में सत्य को यथार्थ, वास्तविकता और ईमानदारी के रूप में जाना गया; जबकि ऋत् को नैतिक नियमों के रूप में व्याख्यात किया गया।[२]

१. ऋतं च सत्यं चाभिधातपसोऽध्यजायत् । ऋत् १०/१९०/१

२. सं. श. कौ. पृ० १६०, २६५; हि. स., पृ. १०४

वेदों में जिन देवताओं की स्तुतियाँ की गयीं हैं उनके आचार और व्यवहार से नैतिक नियमों का सङ्केत भी किया गया है, जैसे कि वरुण देवता को ऋत् के धारक के देवता के रूप में सङ्केतित किया गया है जिसका अर्थ यह लिया जा सकता है कि यह देवता ऋत् को आधार देता है और इसके जीवन में धर्म तथा नैतिक आचरण प्रतिष्ठित हैं, इसमें इन्द्र का उल्लेख भी है।[1] एक स्थान पर सोम देवता की स्तुति की गयी और उस स्तुति में यह सङ्केत किया गया है कि सोम सत्य की रक्षा करते हैं, सोम ही ऐसे देवता हैं जो न केवल सत्य की रक्षा करते हैं, अपितु असत्यवादियों का सङ्घार करते हैं इसलिये यह सङ्केत ग्रहण करना स्वाभाविक है कि ऋग्वैदिक देवता ऋत्, सत्य, धर्म आदि की प्रवृत्तियों के आदि स्वरूप के धारक थे और नैतिक नियमों के विशेष अङ्गों आदि के उद्भावक थे।[3]

व्याकरण शास्त्र के अनुसार नीति शब्द का धातु और प्रत्यय लगाकर जो अर्थ किया जाता है उसमें इसका अभिप्राय होता है ले जाने की क्रिया, युक्ति, आचार–पद्धति आदि। इस शब्द में 'नी' धातु है और 'क्तिन' प्रत्यय है।[3] इस धातु और प्रत्यय से बना हुआ यह शब्द एक यह अर्थ भी देता है जिसमें इसके ऐहिक तथा आमुष्मिक अर्थ प्राप्त किये जा सकते हैं। इसी तरह से आङ्. उपसर्ग का प्रयोग करके 'चर्' धातु से 'धञ्' प्रत्यय लगाने पर जो शब्द बनाते हैं उसका अर्थ भी नीति के एक अङ्. जैसा होता है।[4]

१. ऋक् १/१०/५०६; २/२८/८; १०/८/५
२. वही, २/१३/७
३. सं. श. कौ., पृ. ६११
४. वही, पृ० १७७

वेद संस्कृत परम्परा के आदि ग्रन्थ हैं। वैदिक साहित्य में जिस ज्ञान का प्रारम्भिक स्वरूप है उपनिषदें आगे चलकर उसी ज्ञान के विस्तार और व्यापकता का निर्देश करती हैं। वेदों में जिस रूप में ऋत् और सत्य का सङ्केत है उपनिषद् उसका विस्तार करते हैं और उसे नीति तथा आचार के रूप में देखते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में ऋत् और सत्य की उपासना के लिये सङ्केत किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि ऋत् ही सत्य है, सत्य को ब्रह्म जानकर जो इसकी उपासना करते हैं वे सभी लोकों को जीत लेते हैं।[१] एक अन्य उपनिषद् में यह कहा गया है कि जो सत्यवादी होता है वह जीवन में विजय प्राप्त करता है। इसके हेतु में यह निर्देश है कि सत्य का प्रयोग इसलिये आवश्यक है क्योंकि सत्य–भाषण से ही देवमार्ग विस्तीर्ण होता है।[२] इस रूप में जैसे सत्य को स्थापित किया गया है उससे इसे नीति का एक अङ्ग माना जा सकता है; सत्य ही ऐसा है जिसे ब्रह्म रूप में स्वीकार करते हैं और जिस सत्य को नैतिक जीवन का एक आधार मानते हैं।

नीति शब्द के अर्थ को लेकर उसके प्रयोग को लेकर और उसके भावार्थ के विस्तार को लेकर एक आचार्य ने यह व्याख्यान किया है कि नीति का प्रयोग शास्त्रवत् होता है।[३] इस व्याख्यान का अभिप्राय यह हो सकता है कि जैसे शास्त्र शासन करता है अथवा अनुशासन का आधार बनता है सम्भवतः नीति भी यही काम करती है। उपनिषदों में नीति को लेकर इतना अधिक व्यापक विचार किया गया है कि वे नीति के अन्तर्गत दान, दया, सत्य और शौच आदि को सम्मिलित करती हैं।

१. तै. उ. १०/१–२

२. मु. उ. ३/६

३. छान्दो०, पृ. ७१४ पर शाङ्करभाष्य

एक अन्य आचार्य ने नीति के लिये एक दूसरे प्रकार का उदाहरण दिया है। वे यह मानते हैं कि नीति संसार के व्यवहारों का नियमन करती है। उन्होंने अपना मन्तव्य देते हुये यह लिखा है कि जिस तरह से बिना देह धारण किये हुये भोजन की स्थिति नहीं बनती उसी तरह से बिना नीति के लोक—व्यवहार की कल्पना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से नीति को धर्म का एक ऐसा अङ्ग कहा जा सकता है जो विधिवत् धर्म का निरूपण करता है।[१] नीतिशास्त्र को लेकर अन्य स्थानों पर भी अनेक प्रकार के विचार दिये गये हैं। एक विदुषी का यह मत है कि महाभारत महाकाव्य में नीति और आचार के लिये शील शब्द का प्रयोग किया गया है।[२] वहाँ पर यह निर्देश भी है कि वे कर्म नीति सङ्गत माने जाते हैं जो किसी भी परिस्थिति में किसी के लिये अहित करने वाले न होवें।[३]

जिन आधुनिक विद्वानों ने नीति और आचार को लेकर अपने मन्तव्य को प्रकट किया है वे भी अपनी—अपनी दृष्टि से अपना मन्तव्य देते हैं। पूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् अपना मन्तव्य देते हुये यह लिखते हैं कि नैतिक सिद्धान्तों का आधार तन्त्र मीमांसा है। हम परम सत्ता को जैसा समझते हैं वैसा आचरण भी करते हैं इसलिये हमारी दृष्टि से हमारा कर्म सहमत होकर प्रवृत्त होता है।[४]

---

१. शु.नी.सा.३/१/६

२. म.भा.अ.,पृ. २४

३. म.भा.शां.प. २४/६४—६६

४. ई.रे.वे.था., पृ. ७६—८४

अन्य विद्वानों में एक विद्वान् ने अपना यह मत व्यक्त किया है कि नीति एकता का शास्त्र है और इसका आधार प्रेम है। अर्थात् नीति प्रेम पर आधारित है।[1] एक दूसरे विद्वान् ने अपना अभिमत देते हुये यह मत व्यक्त किया है कि नीति सृष्टि के अनेक स्तरों में से एक स्तर है इसलिये सृष्टि के विकास की प्रक्रिया जब तक मानसिक स्तर पर चलती रहेगी तब तक नैतिक नियम भी चलते रहेंगे क्योंकि नीति का प्रमुख स्तर मानसिक होता है।[2] एक और विद्वान् नीति को लेकर अपना यह अभिमत देते हैं कि सम्पूर्ण समाज के लिये अपना स्वार्थ अर्पण कर देना और समाज के हित के लिये सतत प्रयत्नशील रहना व्यक्ति का परम स्वार्थ है, यही नैतिकता है जो साम्य योग्य से निर्मित होती है।[3] एक विचार इस प्रकार का भी प्राप्त है जिसके आधार पर यह मान्य है कि नीति वह है जिस पर चलकर मनुष्य ऐहिक, आयुष्मिक और सनातन कल्याण का अधिकारी बनता है।[4] नीति से समाज में स्थिरता और सन्तुलन बना रहता है, सामाजिक प्राणियों का सभी प्रकार का अभ्युदय होता है, विश्व में सभी प्रकार से शान्ति स्थापित होती है और इस तरह से नीति एक ऐसी अवधारणा है जिससे व्यक्ति और समाज का कल्याण होता है।

अन्य पाश्चात्य विद्वान् भी ऐसे हैं जिन्होंने नीति को लेकर पृथक्–पृथक् रूप से अपने विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने अपने विचारों में यह कहा है कि नीति नियमित मानवीय आचरण है, मानवीय जीवन में उपस्थित आचरण है तथा मनुष्य के जीवन में उपस्थित होने वाले शुभ और अशुभ का सङ्केत है।[6]

१. सा.नी.स., पृ. १०
२. ला.डि.पृ. ९१–९२
३. साम्य योग, पृ. २१२
४. भा.नी.ई., पृ. ६१२
५. भा.नी., पृ. १–२
६. नी.द. (आमुख)

आचार के सम्बन्ध में इसका शाब्दिक अर्थ और व्यापक अर्थ देते हुये अनेक विद्वान् विचारकों ने अपने जो मत व्यक्त किये हैं उसमें यह कहा गया है कि सत् आचरण मनुष्य के व्यक्तित्व और कृतित्व को व्यक्त करते हैं। अर्थात् आचरण व्यक्ति के व्यक्तित्व और कृतित्व का बोधक होता है।[१] इसी तरह से एक दूसरे स्थान पर यह सङ्केत किया गया है कि जीवन में सञ्चालित होने वाले जो भी रीति–रिवाज होते हैं उन्हें आचार के रूप में कहते हैं।[२] मनुस्मृति के रचनाकार महर्षि मनु ने अपना यह मत व्यक्त किया है कि वेदों और स्मृतियों में जो धर्म के मूलक तत्त्व कहे गये हैं वही आचार हैं। एक दूसरा उदाहरण इस संबंध में यह है जिसे शिष्टाचार के रूप में उल्लिखित किया गया है, वहाँ पर शिष्टों के आचार को शिष्टाचार कहा गया है। इसमें यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय और सत्य सम्मिलित होते है।[३] इन सम्पूर्ण गुणों का जो समूह है वही शिष्टाचार है और वही एक प्रकार से आचार शब्द का अर्थ भी है।

आचार के विषय में एक ओर भारतीय विद्वान् अपना मत व्यक्त करते हैं तो दूसरी ओर आचार शब्द में मनुष्य की आदतें, उसके रीति–रिवाज और उसके चरित्र को ग्रहण किया जाता है।[४] एक दूसरे पाश्चात्य विद्वान् अपने मत को अभिव्यक्त करते हुये यह कहते हैं कि उचित और अनुचित की दृष्टि से मनुष्य के जीवन में जो भी सम्पादित होता है, वह आचार मूलक होता है।[५]

१. व. ध., पृ. ११५
२. व्या. स्मृ. २/२५/३१
३. म. भा. वन, पर्व. १५८/५७
४. मै. ए., पृ. १
५. ए. मै. ए., पृ, २

इन सभी सन्दर्भों के आधार पर यह कहना सङ्गत हो सकता है कि जीवन में जो भी शुभ आचरित होता है उससे आचार का अभिप्राय ग्रहण किया जा सकता है। इस आचार के माध्यम से जीवन का शुभ व्यक्त होता है और वही शुभ व्यक्ति के जीवन का मूल है। इसी को एक प्रकार से चरित्र का नाम भी दिया जाता है।

(ब) नीति एवं आचार की व्यापकता

जहाँ तक नीति और आचार के विषय में उसके सीमित अर्थ को और व्यापक अर्थ को कहना सम्भव है तो वहाँ पर यह मन्तव्य देना सम्भव हो सकता है जिसके अनुसार यदि नीति और आचार का उपयोग व्यक्ति पर किया जाता है तो उसका अर्थ व्यक्तिगत होता है। अर्थात् यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन में एक सीमित दृष्टि से नीति और आचार का प्रयोग करता है तो वह वैयक्तिक नीति और आचार होते हैं। अर्थात् व्यक्ति के रूप में प्रयुक्त नीति और आचार तब वैयक्तिक नीति और आचार कहे जाते हैं; किन्तु किसी स्थिति में यदि इनका प्रयोग सामाजिक स्तर पर किया जाता है और उस प्रकार के प्रयोग से यदि इनका अर्थ सामाजिक निकलता है तो वह नीति और आचार वैयक्तिक तथा सामाजिक कहे जा सकते हैं। प्रारम्भिक समय से ही हम यह देखते आ रहे हैं कि मनुष्य जहाँ व्यक्ति के स्तर पर एक विशेष प्रकार का जीवन जीता है वहीं सामाजिक स्तर पर भी उसका एक जीवन होता है क्योंकि व्यक्ति के लिये और समाज के लिये भी नीति और आचार की दृष्टि अवश्यम्भावी है।

जिस समय प्रारम्भ में ऋत् और सत् की चर्चा की गयी है तो इसे व्यक्ति के लिये भी स्वीकार किया गया और समाज के लिये भी समान रूप से स्वीकार किया गया। महर्षि वेद व्यास ने सत्य को धर्म, तप, योग, यश और ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने यह लिखा है कि सत्य ही वह तत्त्व है जो प्रजा की उत्पत्ति में हेतु है और वही स्वर्ग तथा लोक को धारण करता है।[१] सत्य को व्यक्ति के रूप में हम उपनिषद् की उस कथा से भली प्रकार समझ सकते हैं जब महर्षि जाबालि आश्रम में अध्ययन के लिये जाते हैं और उनसे यह पूछा जाता है कि उनके पिता का क्या नाम है, अभी तक उन्हें अपने पिता का नाम ज्ञात नहीं था इसलिये वे लौटकर अपनी माता के पास आते हैं और उससे अपने पिता का नाम पूँछते है। उनकी माता कहती है कि उसने ऋषियों की सेवा करके उसे प्राप्त किया है इसलिये वह स्वयं भी उसके पिता का नाम नहीं जानती और कहती है कि वह यही बात आश्रम में जाकर अपने आचार्य को कहे। जाबालि लौटकर आश्रम में जाता है और इस सत्य को वैयक्तिक रूप से स्वीकार करके ऋषि से इसी सत्य का कथन करता है। आचार्य प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और कहते हैं कि ऐसा कथन केवल ब्राह्मण ही कर सकता है और तू ब्राह्मण ही है।[२] एक दूसरे स्थान पर उपनिषदों में विवेकी पुरुष के लिये यह निर्देश है कि जो अपना जीवन विवेकपूर्ण ढंग से व्यतीत करते हैं वे प्रेम की प्राप्ति की अपेक्षा श्रेय को अपने जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं इसलिये इस स्तर पर व्यक्ति श्रेयस

....

१. म. भा. शा. प. ५६/५, ८३/१

२. छान्दो. ४/५/२

की प्राप्ति करके आत्मज्ञान की ओर अभिमुख होते हैं और ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व पर विश्वास नहीं करते।[१]

यहाँ पर प्रेय और श्रेय का जो सन्दर्भ दिया जा रहा है उसमें स्पष्टता के साथ यह सङ्केत देखा जा सकता है कि जगत् में आत्मा और ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, आत्मा सत् है और यही एकमात्र जगत् की सत्ता है, सत् ही जगत् हैं, सत् ही ईश्वर है और यही सत् सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है।[२]

उपनिषदें सदा व्यक्ति को केन्द्र में रखकर उपदेश करती हैं, उनका भाव यह होता है कि व्यक्ति ऐसा आचरण करे जो उसे कल्याण की ओर ले चले, इस प्रकार का उनका उद्देश्य यद्यपि व्यक्ति को केन्द्र में रखकर ही होता है तथापि वह उपदेश सामाजिक सन्दर्भ के केन्द्र में भी कहा जा सकता है। आचार्य उपदेश करते हैं कि सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद मत करो, आचार्य के लिये यथेष्ट धन लाकर उन्हें देकर उनकी विद्या के ऋण से मुक्त हो जाओ। सत्य से प्रमाद मत करो, धर्म में प्रमाद मत करो, माता–पिता के प्रति प्रमादी मत बनो और उनके प्रति देवभाव रखो।[३] यह ऐसा उपनिषद् कथन है जो किसी अन्तेवासी को केन्द्र में रखकर किया गया है तथापि सभी के द्वारा पालनीय होने के कारण यह सामाजिक सन्दर्भ में भी सार्थक है।

१. कठ. १/२/१
२. बृह. ५/४/१
३. तै. उ. ११/१–२

एक विद्वान् ने नीति और आचार के वैयक्तिक और सामाजिक सन्दर्भ को लेकर यह मत व्यक्त किया है कि जब नीति समष्टि में व्याप्त रहती है तब वह ऋत् की संज्ञा से अभिहित होती है किन्तु जब वह तप के सङ्ग से विशिष्ट रूप में व्यक्त होती है तब उसे सत्य के रूप में जाना जाता है और सत्य के व्यवहार के रूप में प्रयोग में लाया जाता है।[१] इसी तरह से यह दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया गया है कि नीति, धर्म और दर्शन परस्पर एक–दूसरे के पूरक हैं। नीति, धर्म और दर्शन को एक दूसरे से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता है।[२]

स्मृतिकारों में आचार्य मनु ने धर्म के मूल की व्याख्या करते हुये लिखा है कि वेद, स्मृतियों को जानने वाली स्मृति, श्रेष्ठ जनों का आचार तथा आत्मतुष्टि यही धर्म के मूल हैं। इस कथन से ज्ञात होता है कि श्रेष्ठजनों का जो आचार है वही मनुष्य के जीवन में व्यवहारिक धर्म है। धर्म के परिपालन में श्रेष्ठजनों की जो आत्मतुष्टि है वह केवल एक व्यक्ति की आत्मतुष्टि नहीं है अपितु वह सामाजिक आत्मतुष्टि है और इस रूप में यह आत्मतुष्टि व्यक्ति स्तर पर स्वयं को प्रकट करती है तथा समष्टि रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करती है।

१. भा. नी. वि., पृ. ३९
२. वही, पृ. १८

(स) नीति तथा आचार का भेद

इस संसार में आने के पश्चात् जैसे ही व्यक्ति विचार करने की क्षमता पाता है वह यह कामना करता है कि उसे अपने जीवन में सुख की प्राप्ति होवे। यह सुख कैसे मिले और जीवन में प्राप्त होने वाला आनन्द व्यक्ति कैसे प्राप्त कर सके इसके लिये एक स्थान पर वेद यह निर्देश देता है कि हम कर्म करते हुये सौ वर्ष तक का जीवन धारण करें और हमारे अन्दर जो अज्ञान है उसे दूर कर अपने लिये इच्छित वस्तु प्राप्त करें।[१] इसी तरह से जब वैदिक ऋषि अपने ज्ञान के सामर्थ्य से प्रकृति के प्रत्यक्ष देवताओं में अपनी प्रार्थना समर्पित करते हैं तो वे यह चाहते हैं कि देवता उन्हें कल्याण की प्राप्ति करावें और वे अपने जीवन में ओजस्वी बनें।[२] इसी तरह से ऋग्वेद में वायु से प्रार्थना करते हुये कहते हैं कि हे वायु देवता! तुम अप्रतिम देवता हो, तुम्हारे शक्ति और सामर्थ्य से किसी की तुलना नहीं की जा सकती इसलिये तुम हमें कल्याण का भाजन बनाओ और इससे हम दीर्घायु हो सकें।

वैदिक ऋषियों ने अपनी मन्त्रद्दष्टा शक्ति से कभी भी किसी एक व्यक्ति के कल्याण की कामना नहीं की। वे जब भी कल्याण प्राप्ति की कामना करते थे तब वे यह कामना भी करते थे कि हमारे शुभ के साथ–साथ इतर जनों का कल्याण भी होवे। अपनी इस भावना की अभिव्यक्ति से वे

---

१. यजु. १०/२; २०/२१
२. वही. १९/९
३. ऋक् १०/१८६/१

यह कामना करते थे कि हम सभी साथ– साथ चलें, एक साथ रहें, बोलें और एक जैसी मनोवृत्तियों से विचार करें।[१]

इस आधार पर यह सङ्केत ग्रहण करना सङ्गत होगा कि वैयक्तिक स्तर पर जिस ऋत् और सत्य की उद्भावना हुई उससे व्यक्ति की शुचिता तो निर्धारित हुई किन्तु इसी के साथ–साथ उस वैयक्तिक नीति से सामाजिक नीति को सुदृढ़ आधार मिला; क्योंकि वैदिक नीति जहाँ व्यक्ति में शुचिता का आधान देखना चाहती है वहीं वह समाज में भी शुचिता के स्वरूप का अनुभव करती है।

उपनिषद् की ऐसी ही एक भावना प्रेय और श्रेय की भावना है। यद्यपि ये दोनों पृथक्–पृथक् रूप से भिन्न–भिन्न प्रयोजन वाले दिखते हैं तथापि प्रेय के माध्यम से व्यक्ति जहाँ आगे बढ़ता है वहाँ श्रेय की प्राप्ति ही सुलभ होती है। इसलिये यह कहा गया है कि जो श्रेय की प्राप्ति करता है वह शुभ की प्राप्ति करता है। प्रेय और श्रेय की इसी अभिन्नता से व्यक्ति के लिये आचार–मूलक व्यवहार का प्रतिपादन उपनिषदें करती हैं और निष्कर्ष रूप में यह निर्देश करती हैं कि सत्य से ही अनृत पर विजय प्राप्त की जा सकती है। सत्य के प्रयोग से ही देवमार्ग विस्तीर्ण होता है, सत्य ही वह मार्ग है जिस पर चलकर ऋषिगण वह पद प्राप्त करते हैं जहाँ पर सत्य का परम विधान विद्यमान है।[२] यह व्यक्ति स्तर पर और समाज स्तर पर समान रूप से स्वीकार्य है।

....

१. ऋक् १०/१२८/१
२. ई. द्वा. उ., पृ. ६

प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत और आश्रम–व्यवस्था के अन्तर्गत जिन कर्त्तव्यों का आख्यान किया गया था उनका उद्देश्य सामाजिक रूप से नीति को लागू करना था। एक स्थान पर वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये एक आचार्य ने 'वरण' का अर्थ किया है और यह निरूपित किया है कि कोई भी व्यक्ति जब अपने लिये निर्धारित किन्हीं कर्त्तव्यों का वरण करता था तब वह किसी विशेष वर्ण का कहा जाता था। इससे तात्पर्य यह होता था कि व्यक्ति वैयक्तिक रूप से अपने लिये निर्धारित नीति और आचार का पालन करता था तब वह किसी एक वर्ण विशेष का सदस्य होता था। इसी तरह से जब वही कर्त्तव्य सामूहिक रूप से वरण करने योग्य होते थे तब वे सामाजिक उद्देश्य को प्रकट करते थे। इसलिये इस व्यवस्था को अनेक आचार्यों ने इस रूप में महत्त्व दिया है कि तब वर्ण और आश्रम की व्यवस्था व्यक्ति और समाज के भेद से वैयक्तिक भी होती थी और सामाजिक भी होती थी।

जब इसी प्रकार से आश्रम–व्यवस्था का उल्लेख किया गया तो इसकी व्याख्या में इस व्यवस्था को श्रम से जोड़ा गया। भिन्न–भिन्न आश्रमों में रहते हुये और आश्रम धर्म का पालन करते हुये सभी अपने लिये निर्धारित श्रम करते थे और व्यक्ति के लिये तथा समाज के लिये एक सार्थक सामाजिक नीति की स्थापना करते थे। आश्रम धर्म का पालन करना व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से सभी के लिये इसलिये श्रेयस्कर था क्योंकि इससे व्यक्ति का एक ऐसा आचार प्रकट होता था जो सभी के लिये श्रेयस्कर हो सकता था और समाज को भी उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत करता था।

सामाजिक सन्दर्भ में अपने विचारों को व्यक्त करते हुये एक विद्वान् यह लिखते हैं कि प्राचीन भारत की वर्ण–व्यवस्था और आश्रम–व्यवस्था ऐसी व्यवस्थायें थीं जो मनुष्य की सम्पूर्ण प्रवृत्ति को व्यक्त करती थीं। इन व्यवस्थाओं की यह उत्कृष्टता थी कि इनसे मनुष्य की मनुष्यता की वृत्ति प्रकट होती थी और पशुता की अपनी प्रवृत्ति से वह स्वयं को भिन्न रूप में प्रकट कर सकता था। इसलिये इन व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में यह कहना उचित हो सकता है कि वर्ण–व्यवस्था मानव की प्रकृति है और आश्रम–व्यवस्था मानव की संस्कृति है।[१]

इस स्थिति में जब हम प्राचीन समाज की वर्ण–व्यवस्था और आश्रम–व्यवस्था का अवलोकन करते हैं तो यह देखते हैं कि यह व्यवस्था एक प्रकार से मनुष्य के द्वारा पालन की जाने वाली नीति और आचार की व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति सहज रूप से अपने लिये निर्धारित कर्म करता था और उसका वह कर्म ही उसके लिये नीति होता था। इसमें यह भेद नहीं था कि किस वर्ण के लिये किस व्यवसाय का पालन उसकी वृत्ति है अपितु इससे यह भाव प्रकट होता था कि सभी अपने लिये नीति और आचार मानकर सभी अपना कर्त्तव्य करते थे।

श्रीमद्भगवद्गीता में जब वर्णों की उत्पत्ति का क्रम कहा गया है तो वहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्मों और गुणों के आधार पर चारों वर्णों की उत्पत्ति को कहा है। अर्जुन को सम्बोधित करते हुये श्रीकृष्ण का यही कथन है कि सभी के गुणों और कर्मों का विभाग करके ही मैं चार वर्णों की सर्जना करता हूँ।[२] इसका अभिप्राय यह हुआ कि वर्ण–व्यवस्था में गुण और कर्म जितने महत्त्वपूर्ण हैं उतना महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि किसी का जन्म कहाँ हुआ है, जिसके जैसे गुण और कर्म हैं वह उसी रूप में उस वर्ण का माना गया है। इस रूप में जो भी गुण अथवा कर्म हैं वे किसी न किसी रूप में व्यक्ति के नीति अथवा आचार हैं और इन्हीं का पालन व्यक्ति के लिये महत्त्वपूर्ण है।

१. भा. नी. वि., पृ. १२५–१२६

२. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। भ.गी. ४/१३

आश्रम शब्द का शब्दगत अर्थ करते हुये कहा गया है कि जहाँ पर पहुँचकर व्यक्ति अपने मनोयोग से श्रम करता है वह आश्रम कहा जाता है। दूसरा एक अभिप्राय यह भी है कि श्रेय की कामना करने वाला जहाँ पहुँचकर श्रममुक्त हो जाता है उसे आश्रम कहा जाता है।[1] इन दोनों ही व्याख्याओं में यह अभिप्राय छिपा हुआ है कि आश्रम वह स्थिति है जहाँ व्यक्ति नीतिपूर्वक अपने कर्म का सम्पादन करता है और उन कर्मों को सम्पादित किये जाने के कारण मुक्ति के लाभ से लाभान्वित होता है। इस स्थिति में आश्रम—व्यवस्था का जो स्वरूप प्रकट होकर आता है उससे यह ग्रहण किया जाता है कि यह व्यवस्था भी व्यक्ति के लिये हितकारी थी और समाज इससे बँधकर एक ऐसा जीवन जीता था जो श्रेय था।

इस प्रकार से वर्ण व्यवस्था और आश्रम—व्यवस्था वैयक्तिक रूप से नीति की स्थापना करने में सहायक थी तो वह व्यक्ति के लिये कर्त्तव्य रूप में आचार—पालन का एक ऐसा आधार देती थी जो मनुष्यता के उत्कृष्ट व्यवस्था को प्रदर्शित करती थी। इन व्यवस्थाओं के प्रतिपादन से और अनुपालन से व्यक्ति वैयक्तिक रूप से अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाता था और जब व्यक्ति उत्कृष्ट होता था तो वह सामाजिक रूप से अपने इन गुणों को व्यक्त करता था। इसलिये जब तक वर्णाश्रम व्यवस्था और इस व्यवस्था के रूप में प्रयुक्त नीति और आचार व्यक्ति रूप में लागू होते थे तब तक वे अपने सीमित अर्थ को ही व्यक्त करते थे। जब वर्ण और आश्रम व्यवस्था के रूप से प्रवर्तित नीति और आचार सम्पूर्ण समाज को दिशा देते थे तो नीति तथा आचार का अर्थ व्यापक और सामाजिक हो जाता था। इसीलिये व्यक्ति—व्यक्ति स्तर पर और समाज के स्तर पर नीति और आचार के ये तत्त्व श्रेय के साधक होते थे।

१. हि. वि. (१), पृ. ४२७

(द) नीति तथा धर्म में समानता एवं विषमता

भारतीय परम्परा में धर्म को लेकर प्रारम्भ समय से ही विचार किया जाता रहा हैं। सामान्यतः यह कहा जाता रहा है कि व्यक्ति द्वारा धारण किये जाने के अर्थ में यह धर्म है। अर्थात् जिसे व्यक्ति अपने हित में और परहित में धारण करता है वह धर्म के नाम से आख्यात है। प्राचीन ग्रन्थों में, विशेषतः धर्मसूत्रों में इसे श्रौत, स्मार्त तथा शिष्टाचार के रूप में निरूपित किया गया है। श्रौत धर्म का वर्णन यज्ञ—याज्ञादि के रूप में है, स्मार्त धर्म का निरूपण विविध स्मृतियों में है और स्मृतियों में वर्ण—व्यवस्था तथा आश्रम—व्यवस्था के रूप में धर्म का कथन है।[१] तीसरा जो धर्म शिष्टाचार के रूप में वर्णित है उसे सामान्य धर्म कहा जाता है और उसका निरूपण अनेक स्थानों पर साधारण धर्म के रूप में किया गया है।[२]

वैदिक परम्परा के पश्चात् उपनिषदों में भी धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में सङ्केत प्राप्त होते हैं। एक उपनिषद् यज्ञ, अध्ययन और दान के रूप में धर्म के त्रिविध अङ्गों का वर्णन करती है। छान्दोग्योपनिषद् के उस स्थल पर जब आचार्य शङ्कर अपना मन्तव्य व्यक्त करते हैं और उस पर अपनी आख्या देते हैं तो वे यह लिखते हैं कि यज्ञ ब्रह्मचारियों के लिये है, तप गृहस्थों के लिये हैं और धर्म का तीसरा अङ्ग वानप्रस्थ वासियों के लिये है। इसमें से परिव्राजकों के लिये भी धर्म का सङ्केत है जो उन्हें अमृत पद की प्राप्ति कराता है। इस रूप में धर्म व्यक्ति के लिये पूरे जीवन में अपरिहार्य होता है।[३]

१. कौ.अ., पृ. १७

२. बौ. ध. सु., पृ. ५८

३. छा. उ., पृ. २२७

महर्षि ने धर्म को मनुष्य के श्रेष्ठ गुण के रूप में कहा है। उनका सङ्केत यह है कि मनुष्य के लिये यह आवश्यक है कि वह अनेक तीर्थों में स्नान करके शुद्ध और सात्विक बना रहे; किन्तु इससे अधिक उससे यह अपेक्षा है कि वह किसी के प्रति कुटिलता का भाव न रखे। अर्थात् वह किसी के साथ कुटिलता का आचरण न करे।[१] स्मृतिकारों की परम्परा में महर्षि मनु ऐसे हैं जो मनुष्य के उन गुणों को धर्म के रूप में सङ्केतित करते हैं जिन गुणों से उसका व्यक्तित्व श्रेष्ठ सिद्ध होता है। इस दृष्टि से महर्षि याज्ञवल्क्य भी उन्हीं के निकट ठहरते हैं और ये दोनों आचार्य क्षमा, अस्तेय, विद्या, सत्य और अक्रोध जैसे सद्गुणों को धर्म के रूप में निरूपित करते हैं।[२]

एक सन्दर्भ में मनुष्य की प्रवृत्तियों का जब निरूपण किया जाता है तो यह कहा जाता है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो पशु और मनुष्य में सामान्य रूप से देखी जाती हैं। पशु इन्हीं प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर अपना जीवन–व्यवहार चलाता है और सामान्य रूप से मनुष्य भी इन्हीं प्रवृत्तियों के आधार पर अपने जीवन का सञ्चालन करता है किन्तु मनुष्य को श्रेष्ठ तब कहा जाता है जब वह इन पाशविक प्रवृत्तियों से हटकर धर्म का आचरण करता है। इस अर्थ में यदि देखा जाये तो मनुष्य के द्वारा संयमित आहार, संयमित निद्रा, निरर्थक भयभीत न होना और संयमित मैथुन भी धर्म कहा जाता है और इस रूप में धर्म का जो अर्थ निकलता है वह संयम होता है और संयम ही मनुष्य को धर्मवान् बनाता है।[३] इस अर्थ में देखा जाये तो संयम को धर्म के रूप में मानना नीति के समान ही है।

१. म. भा. उद्योग पर्व. ३/२
२. म. स्मृ. ६/२; या. स्मृ. ४/२
३. म. भा. शां. २९४/२९

'नी' धातु से बना हुआ नीति शब्द ले जाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। एक स्थान पर यह कहा गया है कि नीति वह है जिसका अभिप्राय वैयक्तिक नीति प्रत्ययों और अभिप्रायों से लिया जाता है। इस कथन में यह भी सम्मिलित है जिसके द्वारा यह कहा गया है कि नीति वह है जो ऐहिक और पारलौकिक अर्थ सिद्ध करने में सहायक होती है।[1]

इसी तरह से जब नीति और दर्शन का विचार किया जाता है तो यह कहा जाता है कि नीति दर्शन का वह पक्ष है जिसमें मानवीय व्यवहार का मूल्यात्मक विवेचन होता है। इस विवेचन में मुख्य रूप से क्या औचित्य प्रद है और क्या अनौचित्यप्रद है यह विचारणीय होता है।

इस रूप में धर्म का और नीति का जो अभिप्राय प्रकट होता है और इनमें जो परस्पर सापेक्षता दिखायी देती है उसके अनुसार जीवन में क्या करना औचित्यप्रद है और क्या करना अनौचित्यपूर्ण है यह नीति का विषय है। जो करणीय होता है उसे नीति कहा जाता है और जो अकरणीय होता है उसे अनीति कहा जाता है। इसी तरह से धर्म के व्याख्यान में धर्म को मनुष्य के सद्गुणों के समूह के रूप में देखा जाता है, ये सद्गुण भी ऐसे होते हैं जिनका पालन करने पर व्यक्ति धर्मवान् बनता है। यदि कोई धर्म का पालन नहीं करता तो वह अनीति का व्यवहार करने वाला हो जाता है। इस तरह से धर्म और नीति कहने में पृथक्–पृथक् दिखायी देते हुये भी एक–दूसरे के प्रति सापेक्ष जुड़े हुये से भी दिखते हैं और इस रूप में धर्म और नीति में बहुत बड़ा अन्तर देखने को नहीं मिलता।

१. सं. श. कौ., पृ. ६२८

(य) आचार और नीति में साम्य-वैषम्य

जब आचार शब्द से मनुष्य की वृत्तियों का विश्लेषण किया जाता है तब यह कहा जाता है कि मनुष्य के द्वारा किये गये विवेकपूर्ण विचार का व्यावहारिक पक्ष आचार है। संस्कृत के एक शब्दकोश में आचार शब्द का अर्थ करते हुये उसके पर्याय के रूप में नीति शब्द का प्रयोग किया गया है और यह कहा गया है कि आचार का अभिप्राय होता है– चरित्र, नीति, शील और सदाचार।[१]

जब नीति को व्याख्यात किया गया है तो यह कहा गया है कि जो विचार व्यक्ति को विवेक देते हैं और जिन विचारों से बँधकर वह श्रेष्ठ मार्ग की ओर ले जाया जाता है वह नीति है। इस विश्लेषण में भी यह कहना सङ्गत हो सकता है कि नीति का अभिप्राय वैचारिक रूप से सद्‌गुणों का आधान होता है किन्तु जब उन्हीं सद्‌गुणों को व्यावहारिक रूप में अथवा क्रिया के रूप में अवतरित किया जाता है तो वे सदाचार कहलाने लगते हैं।

इस तरह से चाहे नीति हो, आचार हो अथवा धर्म हो, ये किसी न किसी रूप में मनुष्य के सद्‌गुणों को ही व्यक्त करते हैं। कहीं–कहीं नीति और धर्म वैचारिक रूप में दिखायी देता हैं और सदाचार व्यवहारिक रूप में दिखायी देता है। तो कहीं–कहीं धर्म और आचार दोनों ही व्यवहारिक रूप में दिखायी देते हैं और इस रूप में यह कहना सङ्गत हैं कि नीति, धर्म और आचार परस्पर सापेक्ष हैं।

....

१. सं. श. कौ., पृ. ६११

द्वितीय अध्याय

(महाकाव्य परम्परा)

द्वितीय अध्याय

(अ) वाल्मीकि रामायण और महाकाव्य परम्परा

महर्षि वाल्मीकि के आविर्भाव होने के पूर्व वैदिक संहितायें ब्राह्मण ग्रन्थ और प्रमुख उपनिषद् ग्रन्थ रचे जा चुके थे। संहिताकाल वैदिक युग का वह काल है जिसमें भाषा का अद्‌भुत प्रवाह, भावों का वेग देखने को मिलता है। उस समय की रचनाओं में आध्यात्मिक और स्तुति परक मन्त्रों के साथ–साथ जन साहित्य के सृजन का भी सङ्केत मिलने लगा था। तब राजाओं और जन समुदाय को प्रसन्न करने के लिये लोक कथायें भी गायी जाने लगी थीं और विद्वानों के लिये उपादेय साहित्य के साथ–साथ ऐसा साहित्य सृजित होने लगा था जिसमें जन भावनायें समाहित हो रहीं थीं। इसीलिये अनेक विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि उस समय का जो अलिखित और अपेक्षाकृत अपरिचित साहित्य था, वह एक ऐसी निधि था जिससे परिष्कृत और परिपुष्ट रचनाओं के रूप में महाभारत तथा वाल्मीकि रामायण जैसे विशिष्ट ग्रन्थ प्राप्त हुये।

वैदिक वाङ्मय में वेदाङ्गों और छन्द शास्त्र का भी सङ्केत है। यही छन्द शास्त्र परिष्कृत होकर लौकिक छन्द शास्त्र के लिये आधार बना और इसी से बाद में परिष्कृत रचनायें भी हुईं। काव्य के क्या तत्त्व होते हैं, काव्य की रचना किस प्रकार की जाती है, काव्य में अलङ्कारों का क्या स्थान है और अलङ्कारों की कितनी व्यापकता है इस अवधारणा का प्रारम्भिक स्वरूप वेदों में यत्र–तत्र देखने को मिलता है।[1]

वाल्मीकि जब लौकिक संस्कृत–साहित्य के आदि कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुये तो उनके सामने काव्य की रचना के अतिरिक्त जन–साहित्य के रूप में प्रचलित गाथा, नाराशंसी तथा इतिहास और पुराण के रूप में व्यापक और विशाल साहित्य

१. ऋक् १/१/२; ३/३२/१३

विद्यमान था। महर्षि वाल्मीकि ने स्वयं ही इन विविध विधाओं का उल्लेख किया है और निश्चित रूप से इनका आश्रय लेकर उन्होंने अपनी रचना प्रस्तुत की होगी।[१]

वाल्मीकि रामायण के रचनाकाल के विषय में और इसकी विषय वस्तु के विषय में हम तब तक भली प्रकार अवगत नहीं हो सकते जब तक उस समय की दार्शनिक पृष्ठभूमि से अवगत न हो जायें। जिस समय वाल्मीकि का प्रादुर्भाव हुआ था उस समय तक प्रमुख–प्रमुख धर्मशास्त्रों की रचना हो चुकी थी। वाल्मीकि रामायण को देखने से यह ज्ञात होता है कि तब तक सांख्य और न्याय दर्शन जैसे दर्शन भी प्रतिष्ठित हो चुके थे। फिर भी उस समय का वैचारिक परिदृश्य ऊहापोह का परिदृश्य था। एक ओर वैदिक धर्म के प्रति निष्ठा थी तो दूसरी ओर लोकायतिक अपनी अनास्थावादी प्रवृत्ति से भिन्न–भिन्न प्रकार के तर्क देकर परम्परा के खण्डन करने का प्रयत्न कर रहे थे, इस प्रकार के अनेक सन्दर्भ वाल्मीकि रामायण में देखने को प्राप्त हो जाते हैं।[२]

इसी तरह से उस समय प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक विचार धारायें भी समाज में प्रचलित थीं। एक विचारधारा के अनुसार कुछ लोगों का यह मत था कि संसार में रहकर संसार के कार्य करते हुये अपने जीवन का श्रेय प्राप्त करना चाहिए। दूसरे प्रकार के वे लोग थे जो संसार से निवृत्त होना चाहते थे और जिनका कहना यह था कि इस संसार से निवृत्त हुये बिना जीवन में कल्याण सम्भव नहीं है। जो प्रवृत्ति मूलक विचारधारा

....

१. वन्दिभिरवन्दितः काले बहुभिः सूतमाघधैः ।
गाथाभिरनुरूपाभिः स्तुतिभिश्च परन्तप ॥ वा.रा. २/८२/८
श्रुयतामिदमाख्यानमनयोर्देवर्चसोः ।
विचित्रार्थपदं सम्यग्गायकौ सम्प्रकटयत् ॥ वा.रा. १/४/१५

२. वही, २/९४, ३२–३३

के पोषक थे वे कर्मकाण्ड का आश्रय लेकर अपने जीवन का सञ्चालन कर रहे थे; किन्तु इसी बीच बौद्ध और जैन धर्म के संस्थापकों ने कर्मकाण्डीय विचारधारा का विरोध किया और वे वैदिक कर्मकाण्डों का खण्डन करने लगे। वाल्मीकि रामायण की रचना तक का सन्दर्भ इसीप्रकार था।[१]

महर्षि वाल्मीकि की कवि के रूप में यह विशेषता है कि उन्होंने जगत्—व्यवहार से दूर रहकर कोई काल्पनिक रचना नहीं की है, उन्होंने अपने समय के सामाजिक परिवेश को देखा और समाज की जो विकृतियाँ थीं उनसे वे उद्वेलित हुये। वाल्मीकि ने अपने मन में उत्पन्न हुयी प्रतिक्रिया को व्यक्त करने में किसी प्रकार सङ्कोच नहीं किया और इसी क्रम में उन्होंने महाराज दशरथ के द्वारा अपने अन्तःपुर में कैकेयी को प्रसन्न करने की चेष्टा विलासता की दारुण परिणति के रूप में किया है। इसी तरह उन्होंने किष्किन्धा के राजा सुग्रीव के अन्तःपुर में कामक्रीड़ाओं का जो वर्णन किया है उसमें भी उनकी भृकुटी टेढ़ी है, इन्हीं सब से क्षुब्ध होकर उन्होंने श्रीराम के आदर्श चरित्र को जीवन का आदर्श माना और एक ऐसे नायक का अवतरण किया जो अपने चरित्र बल से समाज को दिशा दे सकता था। उन्होंने राम के बल में उनकी सम्पदा शक्ति और सैन्य शक्ति को इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जितना अधिक वे राम के जीवन में उनके नैतिक बली को बलशाली होता हुआ देखना चाहते हैं, इसीलिये उनके राम सैन्य बल से बलि नहीं हैं अपितु अपने नैतिक बल के बल से बली हैं।

....

१. आ. वा., पृ. ५

महर्षि वाल्मीकि युगदृष्टा के रूप में अपने काव्य के माध्यम से प्रतिष्ठित हैं। वे अपने समय के और भाविकालिक राजाओं के विशिष्ट स्वरूप को और नियमित चारित्रिक स्वरूप को जानते हैं। उन्हें यह अनुभव है कि राजाओं के अन्तःपुर में आपस का ईर्ष्या–द्वेष और महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति का खेल एक ऐसा खेल है जो किसी न किसी रूप में राज्य–व्यवस्था को अव्यस्थित करता हैं इसीलिये रामायण का प्रारम्भ ही षड़यन्त्र कुचक्र और अनिष्ट की आशंका से होता है। महाराज दशरथ जब श्रीराम को युवराज पद पर अभिषिक्त करने का निश्चय कर लेते हैं तो वे श्रीराम को बुलाकर भाविकाल में उत्पन्न होने वाली शङ्काओं को भी प्रकट करते हैं। वे श्रीराम से कहते हैं कि कल मैं तुम्हें युवराज पद पर अभिषिक्त कर दूँगा। तुम्हारे हितचिन्तक तुम्हारी रक्षा करें, तुम्हारे भाई भरत जब तक नगर से बाहर हैं तभी तक तुम्हारा अभिषेक हो जाये यह मैं चाहता हूँ; यद्यपि भरत अच्छे मार्ग पर चलने वाले हैं, बड़ों की आज्ञा पालन करने वाले हैं, धर्मात्मा और उदार हैं फिर भी व्यक्ति का चित्त चञ्चल होता है।[१] इस रूप में हम यह देखते हैं कि समाज में और राज परिवारों में जो भी अनर्थ घटता था महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि उस पर थी और उन्होंने इस पर अपने विचार भी व्यक्त किये हैं।

....

१. भवन्ति बहुविघ्नानि कार्यणेवं विधानि हि ।
विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः ।।
कामं खलु सतांवृत्ते भ्राताते भरतः स्थितः ।
किन्तुचित्तं मनुष्याणाम् अनित्यमितिमेमतम् ।। वा. रा. २/४/२२–२७

वाल्मीकि की दृष्टि समाज के सभी वर्गों पर थी। अपने समय के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि की जो प्रवृत्तियाँ थीं उन सभी पर उनकी स्पष्ट दृष्टि थी।

वाल्मीकि रामायण का युग इतिहास सम्मत है अथवा न ही यह विवाद का विषय हो सकता है; किन्तु परम्परा यही है कि वाल्मीकि रामायण उस समय का इतिहास तो है किन्तु यह काव्य रूप में है। अर्थात् महर्षि ने अपने समय के सामाजिक सन्दर्भों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हुये इस महाकाव्य को काव्य रूप में प्रस्तुत किया है।[१] एक पाश्चात्य विद्वान् अपना मत व्यक्त करते हुये यह कहते हैं कि रामायण केवल अलङ्कार और रूपक काव्य नहीं है; अपितु यह पौराणिक गाथाओं पर आधारित है।[२] स्वयं महर्षि वाल्मीकि अपने इस महाकाव्य को महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत करने के साथ–साथ इतिहास के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं।[३]

कुछ विचारक यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि इतिहास को यदि किसी विशेष युग में घटित होने वाली घटनाओं का सङ्कलन मात्र माना जा सकता है तो वाल्मीकि रामायण को एक इतिहास ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि इस ग्रन्थ में तत्कालीन समय में घटित घटनायें उल्लिखित हैं।[४]

इन सब बातों की विवेचना की जाये अथवा नहीं यह अवश्य स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि यह महाकाव्य केवल सांस्कृतिक अथवा ऐतिहासिक महाकाव्य ही नहीं है अपितु सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक दृष्टि से भी एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है जिसकी पश्चात् कालिक एक लम्बी परम्परा है।

....

१. हि. स. लि., पृ. २३६
२. वही, पृ. २६२
३. वा. रा. (युद्ध) १२८/११७
४. ए. हि. ई. सं. लि., पेज नं० ५८

संस्कृत महाकाव्य परम्परा में वाल्मीकि रामायण महाकाव्य के बाद महाभारत भी एक विशिष्ट महाकाव्य है। जो काव्य क्रम में पुरुषार्थ चतुष्टय की प्रस्तुति का विशिष्ट ग्रन्थ है। धर्म, दर्शन और जीवन से सम्बद्ध प्रत्येक समस्या का समाधान जिस रूप में इस महाकाव्य में किया गया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कृष्ण द्वैपायन, जो वेद व्यास के नाम से प्रसिद्ध हुये उनके द्वारा रचित यह महाग्रन्थ विविध वैदिक आख्यानों का और उसके पश्चात् ऐतिहासिक घटना क्रमों का जैसा वर्णन करता है, वैसा वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। इस काव्य के रचयिता महर्षि व्यास ने यह उद्घोषित किया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो कुछ इस काव्य में प्राप्त होगा वह अन्यत्र तो प्राप्त हो सकता है किन्तु जो इस काव्य में प्राप्त नहीं है वह अन्यत्र दुर्लभ है।[१]

महर्षि व्यास के पश्चात् महाकाव्यकारों की परम्परा में कालिदास एक ऐसे महाकवि हैं जो सर्वश्रेष्ठ महाकवियों के रूप में उल्लिखित हैं। इस महाकवि को संस्कृत महाकाव्य–परम्परा का ऐसा रत्न माना जाता है जिससे इन्हें उस समय का कविकुल गुरु की उपाधि से कहा गया। महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भवम् और रघुवंश महाकाव्यम् के रूप में दो महाकाव्यों की रचना की है। इनका रघुवंश महाकाव्य अपनी उत्कृष्टता से सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है और इसका नामकरण दशरथ के पितामह रघु के नाम पर हुआ है। यह उन्नीस सर्ग का महाकाव्य है जिसमें राम तथा उनके वंशजों का चरित्र–चित्रण कालिदास ने अपनी विशेष शैली में किया है।

१. सं. सा., इ., पृ. १४

'कुमारसम्भवम्' महाकवि कालिदास का दूसरा महाकाव्य है। इस महाकाव्य में सत्रह सर्ग हैं तथापि आचार्य मल्लिनाथ ने प्रारम्भ के आठ सर्गों पर ही अपनी टीका प्रस्तुत की है इसलिये कुछ विद्वानों ने यह माना है जिन सर्गों की टीका मल्लिनाथ ने की है वही कालिदास रचित अंश है। इस महाकाव्य में श्रृंगार की मधुरता ऐसी है जिससे कला एवं भावपक्ष स्पष्ट रूप से अनूठे बन पड़े हैं। भाषा और भाव का चमत्कार तो इस महाकाव्य में है ही।

कालिदास के बाद अथवा उनके ही समकालीन अश्वघोष भी दो महाकाव्यों के रचयिता हैं। इनका एक महाकाव्य सौन्दरनन्द और दूसरा महाकाव्य बुद्धचरितम् है। सौन्दरनन्द अठारह सर्गों का महाकाव्य है जिसमें गौतम बुद्ध के भाई सुन्दरनन्द के द्वारा गृह त्याग का वर्णन और उस वर्णन के माध्यम से विप्रलम्भ श्रृंगार तथा करुण रस की प्रस्तुति का अनूठा विवरण है।[१] बुद्ध चरितम् महाकाव्य अठ्ठाईस सर्गों का था किन्तु इस समय इसके सत्रह सर्ग ही प्राप्त होते हैं। बुद्ध का जन्म किस रूप में होता है, किस तरह वे संसार का परित्याग करते हैं और कैसे ज्ञान तथा विवेक की दृष्टि को प्रस्तुत किया जाता है यह इस महाकाव्य में देखने को मिलता है। बुद्धचरितम् के उपदेश इनकी विवेक दृष्टि का एक उदाहरण है जिसमें राजा और रङ्क. में भेद तो बहुत दिखाई देता है किन्तु एक स्थिति ऐसी होती है जहाँ पर राजा और रङ्क. समान होते हैं। सुख और दुःख राजा और रङ्क. दोनों को समान रूप से प्रभावित करते हैं, न तो राजा नित्य हंसता

....

१. सं. सा., इ., पृ. ६१

है और न ही रङ्क. नित्य रोता है। दोनों को ही हसने का अवसर प्राप्त होता है और दोनों ही अवसर आने पर रोते हैं इसलिये किसी न किसी स्थिति में राजा और रङ्क. समान है।[१]

'किरातार्जुनीयम्' महाकवि भारवि की एकमात्र ऐसी रचना है जिसके बल पर इस महाकवि को यश प्राप्त हुआ है। इस महाकाव्य की कथा का सङ्केत महाभारत महाकाव्य में अत्यधिक संक्षेप में प्राप्त है। भारवि ने अपनी प्रतिभा के बल पर इस कथानक को अठारह सर्गों में विस्तृत किया है। भाषा, भाव, छन्द और अलङ्कारों का अनूठा प्रस्तुतीकरण इस काव्य में प्राप्त है किन्तु भारवि की प्रस्तुति में सबसे अनूठा है उनके द्वारा अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का प्रस्तुत किया जाना। इनकी यही प्रस्तुति अर्थ गौरव के नाम से प्रसिद्ध हुई।

महाकाव्य परम्परा में रावण वध एक ऐसा महाकाव्य है जिसे भट्टि कवि के नाम से जाना जाता है और इसीलिये इसे भट्टि काव्य कहा जाता है। वलभी के राज श्रीधर के शासनकाल में महाकवि भट्टि ने इस महाकाव्य की रचना की। इस महाकाव्य की अन्य जो भी विशेषतायें हैं उनके अतिरिक्त इसमें व्याकरण के जटिल नियमों का उदाहरण प्रयोग के रूप में किया गया है। इस तरह से यह महाकाव्य व्याकरण के नियमों का प्रयोग काव्य बना है, इसीलिये भट्टि ने लिखा है कि यह काव्य व्याकरण शास्त्रियों के लिये दीपक के तुल्य होगा किन्तु जो व्याकरण शून्य हैं उन्हें इस काव्य से कोई लाभ नहीं होगा।[२]

....

१. दृष्ट्वा विमिश्रां सुखदुःखतां मे राज्यं च दास्यं च मतं समानम् ।
नित्यं हसत्येव हि नैव राजा न चापि सन्तप्यत एव दासः।। बुद्धचरित ११/४४

२. दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम् ।
हस्तामर्ष इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते ।। भ.म.का. २२/३३

महाकाव्यकारों की परम्परा में कुमारदास का नाम भी प्रमुखता से लिया जाता है। कुमारदास का महाकाव्य जानकी हरण मुख्य रूप से कालिदास के महाकाव्य रघुवंशम् से प्रभावित दिखता है। कुमारदास ने काशिका का उद्धरण दिया है जिसकी रचना ६३० और ६५० ई. के बीच की है, इसी तरह से कुमारदास ने आचार्य वामन को प्रभावित किया है, इससे यह मत व्यक्त किया जाता है कि कुमारदास आठवीं शताब्दी के पूर्व के कवि हैं।

जानकीहरण महाकाव्य बीस सर्गों में विभक्त महाकाव्य है, इस महाकाव्य में सीता और राम के चरित्र–व्यवहार को अङ्कित किया गया है और अन्त में रावण वध तक की कथा सङ्कलित है। अपने भाषा, भाव और अलङ्कारों के वैशिष्ट्य से जानकी हरण महाकाव्य स्मरणीय काव्य है।

शिशुपाल वध महाभारत की कथा से प्रभावित एक ऐसा महाकाव्य है जो अपनी रचना शैली से सहृदयों को अपनी ओर आकर्षित करता है। इस महाकाव्य में शिशुपाल वध की कथा को काव्यात्मक रूप दिया गया है। शिशुपाल वध की कथा महाभारत महाकाव्य तथा श्रीमद्भागवत में प्राप्त होती है।[१] काव्य–परम्परा में उपमा, अर्थ–गौरव और पदलालित्य का विश्लेषण महत्त्वपूर्ण रूप से किया जाता है। इसमें यह कहा जाता है कि कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थ गौरव और दण्डी का पदलालित्य ऐसा है जिसकी तुलना में अन्य कोई बराबरी नहीं कर सकता, किन्तु माघ के विषय में यह कहा जाता है कि इनकी उपमा, इनका अर्थ गौरव और इनका पदलालित्य ऐसा है जो अनुपमेय है इसलिये ये एक विशिष्ट कवि हैं।[२]

....

१. भा. पु. ७/४७, म.भा. सभा पर्व ३३–४५ अध्याय तक

२. उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोः गुणाः ।। सं. सा. इ. पृ. ८६ से उद्धृत

महाकाव्यकारों की आगे की परम्परा में महाकवि रत्नाकर, हरिश्चन्द्र और पद्मगुप्त ऐसे महाकवि हैं जिनकी रचनायें भी महत्त्वपूर्ण हैं। रत्नाकर एक कश्मीरी कवि थे जिन्होंने हरविजय नामक एक ऐसा महाकाव्य लिखा जो पचास सर्गों में है और संस्कृत—साहित्य में सम्भवतः ऐसा विपुल महाकाव्य दूसरा नहीं है। इसमें भगवान् शङ्कर के द्वारा अन्धकासुर के वध की कथा को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार से महाकवि हरिश्चन्द्र जैन महाकाव्य धर्मशर्माभ्युदय नामक महाकाव्य के रचयिता हैं, इस महाकाव्य में जैनों के पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित्र प्राप्त होता है। भाषा और भाव की दृष्टि से यह काव्य उत्कृष्ट कोटि का है। पद्मगुप्त द्वारा लिखित नवसाहसाङ्कचरित एक ऐसा महाकाव्य है जो सिन्धुराज और उनकी पत्नी शशिप्रभा के विवाह का वर्णन करता है। आचार्य मम्मट एक स्थान पर इनके काव्य का एक पद्य उद्धृत करते हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि काव्य विवेचन की परम्परा में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान था।[१]

यद्यपि महाकाव्य या अन्य काव्य विधायें आनन्द प्राप्ति के लिये ग्रथित होती हैं किन्तु काव्यकारों की परम्परा में विल्हण और कल्हण दो ऐसे कवि हैं जिन्होंने सामान्य काव्य परम्परा से हटकर ऐतिहासिक काव्यों की रचना की। इन दोनों महाकाव्यकारों द्वारा रचित महाकाव्य ऐसे ग्रन्थ बन गये जो इतिहास प्रसिद्ध हैं और जिन्हें सभी समीक्षक ऐतिहासिक महाकाव्यों के रूप में मानते हैं।

....

१. सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते ।। का. प्र., पृ. १३७

महाकवि विल्हण का विक्रमाङ्कदेवचरित अठारह सर्ग में प्रस्तुत किया गया है, इसमें कवि ने अपने आश्रयदाता विक्रमादित्य और उनके वंश का वर्णन किया है। इन्होंने अपने इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक घटनाओं का इस रूप में वर्णन किया है जिससे यह चालुक्यवंशीय राजाओं के इतिहास जानने का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बन गया है। इसी तरह से कल्हण का राजतरङ्गिणी कश्मीर के उन सभी राजाओं के शासनकाल की घटनाओं का क्रमिक वर्णन करता है जिनका समय ११५१ ई. तक का है। श्रीहर्ष का नैषधचरित एक इस तरह का महाकाव्य है जिसके विषय में यह कहा गया है कि नैषध काव्य के रचित होने पर माघ और भारवि निष्प्रभ हो गये।[1] इस महाकाव्य में नल और दमयन्ती के प्रेम–विवाह का वर्णन किया गया है। इसका कथानक सरस तो है ही अपनी काव्य प्रतिभा के बल पर श्रीहर्ष वीर, करुण, हास्य, अद्भुत, रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों का ऐसा निरूपण करते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ है। नैषध महाकाव्य की शब्द प्रयोग की अनूठी कला और अपनी कल्पना के माध्यम से विविध अलङ्कारों का प्रयोग ऐसा हुआ है जिसकी तुलना अन्य किसी कवि की रचना से नहीं की जा सकती।

इस रूप में वाल्मीकि रामायण के बाद इन मुख्य महाकाव्यों को महाकाव्य परम्परा में उल्लिखित किया जा सकता है यद्यपि अन्य कुछ और कवि भी ऐसे हैं जिन्होंने महाकाव्यों की रचना का प्रयास किया तथापि वे बहुत अधिक उदाहरण नहीं कहे जा सकते हैं। संस्कृत महाकाव्यकारों की परम्परा पुष्ट रही है और वर्तमान समय में भी यत्र–तत्र महाकाव्य लिखे जा रहे हैं।

....

१. उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः। सं. सा. इ., पृ. ९७ से उद्धृत

(ब) महाकाव्यों के लक्षण तथा भेद प्रभेद

जिन समीक्षाकारों ने संस्कृत काव्य—परम्परा का समालोचनात्मक अध्ययन किया है उन्होंने काव्य के दो भेदों का कथन किया है। ये दो भेद हैं—दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। दृश्य काव्य के अन्तर्गत वे काव्य आते है जिनका अभिनय होता हुआ देखकर आनन्द प्राप्त किया जाता है और जिन्हें रूपक अथवा नाटक कहा जाता है। श्रव्य काव्य को तीन वर्गों में बाँटा जाता है, इसके तीन भेद हैं— पद्य काव्य, गद्य काव्य और चम्पू काव्य। पद्य काव्य भी तीन प्रकार के भेदों से विभाजित है। इसके तीन विभाजन इस प्रकार से हैं— महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तकाव्य ।

जब हम महाकाव्य परम्परा का स्वरूप जानना चाहते हैं अथवा इनके भेद—प्रभेदों का ज्ञान करना चाहते हैं तो हम यही कहते हैं कि काव्य का आदि स्वरूप वेदों से ही प्राप्त होता है। किन्तु तब काव्य का कोई लक्षण नहीं दिया गया था इसलिये काव्य का प्रौढ़ रूप जानना उस समय हमारे लिये सम्भव नहीं था। इसलिये संस्कृत की महाकाव्य परम्परा लौकिक संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि रामायण से ही प्राप्त होती है इसलिये वाल्मीकि के पश्चात् कालिदास की परम्परा से लेकर जिन महाकाव्यों को आधार बनाकर उनके लक्षण दिये गये हैं उनमें अनेक प्रकार के लक्षण तो ऐसे हैं जिनमें लक्षण ग्रन्थकारों की सहमति है। अनेक लक्षण ग्रन्थकार ऐसे हैं जो अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा दिये गये लक्षण से सहमत नहीं होते और वे महाकाव्य का लक्षण करते हुये अपनी मान्यता को महत्त्व देते हुये महाकाव्यों के ऐसे लक्षण देते हैं जो दूसरों से भिन्न हैं इसलिये महाकाव्य के लक्षणों में अनेक आचार्यों की दृष्टि से अनेक प्रकार की भिन्नता है और किसी एक कसौटी पर सभी काव्य नहीं कसे जा सकते।

साहित्य दर्पण ने महाकाव्यों के जो लक्षण दिये हैं उसके आधार पर उन्होंने लिखा है कि महाकाव्य सर्गों में विभक्त होता है, महाकाव्य के लिये यह आवश्यक है कि उसमें आठ सर्गों से अधिक की संख्या होनी चाहिए और वे सर्ग न बहुत विस्तृत होवें और न ही संक्षिप्त। इसी तरह से महाकाव्य के एक सर्ग में प्रायः एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए, महाकाव्य का नायक या तो कोई देवता हो अथवा सद्वंश में उत्पन्न हुआ कोई ऐसा क्षत्रिय हो जो वीर, धीरोदात्त आदि गुणों से समन्वित हो। महाकाव्य के लिये यह भी नियत किया गया है कि उसमें श्रृंगार, वीर, शान्त आदि रसों में से कोई एक मुख्य रस होना चाहिए। मुख्य रस के साथ–साथ अन्य रस अनुवर्ती रस के रूप में हो सकते हैं। महाकाव्य का कथानक या तो इतिहास सिद्ध होवे अथवा किसी विशेष पुरुष के जीवन चरित्र को लेकर महाकाव्य लिखा जाना चाहिए। महाकाव्य के जो सर्ग लिखे गये हों उनमें इस प्रकार का काव्य कौशल हो जिससे एक सर्ग के अन्त होने पर आगे के आने वाले सर्ग की कथा का सङ्केत मिल जाता हो। महाकाव्य की रचना के विषय में लक्षण ग्रन्थकारों ने यह निर्देश किया है कि महाकाव्यों में सन्ध्या का वर्णन, सूर्योदय का वर्णन, चन्द्रमा के सौन्दर्य का वर्णन, रात्रि का वर्णन और प्रदोषादि का वर्णन भी किया जाना चाहिए। इसी तरह से महाकाव्यकार को चाहिए कि वह अपने वर्णन में प्रातःकाल का वर्णन करे, मध्यान्ह काल का वर्णन करे, शिकार का वर्णन करे, पर्वतों का वर्णन करे और वनों का भी वर्णन करे। महाकाव्यकार अपने महाकाव्य में श्रृंगार रस को उपस्थित करता हुआ संयोग श्रृंगार और वियोग श्रृंगार दोनों का वर्णन करे।

इन काव्य लक्षणों के आधार पर जो भी महाकाव्य के लक्षण कहे गये हैं वे सभी काव्यों में सम्पूर्णतः प्राप्त नहीं होते किन्तु जिन महाकाव्यों का विवेचन किया जाता है, उनमें अधिकांश मात्रा में सन्ध्या वर्णन, सूर्य का वर्णन, चन्द्रमा का वर्णन, रात्रि और प्रदोष का वर्णन, मध्यान्ह बेला का वर्णन, शिकार का वर्णन, पर्वत, वनों, समुद्रों का वर्णन प्राप्त होता है। इसी तरह से स्वर्ग का वर्णन, यज्ञों का वर्णन, संग्राम और यात्रा का वर्णन, विवाह का वर्णन, पुत्रोत्पत्ति आदि का वर्णन भी प्राप्त होता है। इन सब लक्षणों का प्राप्त होना ही महाकाव्य के लक्षण हैं।[१]

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।
श्रृंङ्गारवीरशान्तानामेकाङ्गी रस इष्यते ॥
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः ।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ॥
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ॥
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ॥ सा. द. छठवाँ परिच्छेद

इन लक्षणों का अधिकतम अनुपालन वाल्मीकि रामायण और महाभारत में किया गया है। हम यह देखते हैं कि रामायण महाभारत और रघुवंश महाकाव्यम् में अनेक नायक हैं। वाल्मीकि रामायण का कथानक भी इतिहास सिद्ध है। कुमारसम्भवम्, रघुवंश महाकाव्यम्, किरातार्जुनीयम्, शिशुपाल वध और नैषधीयचरितम् महाकाव्य के सभी गुणों से समन्वित हैं। इन काव्यों में मुख्य रस के रूप में किसी में श्रृंगार रस का समावेश किया गया है तो किन्हीं में वीर रस का समावेश है। इन महाकाव्यों में एक—एक सर्ग में किसी एक छन्द का प्रयोग किया गया है और बाद में वह छन्द सर्गों का ग्रथन किया गया है और कोई भी महाकाव्य ऐसा नहीं है जिसमें आठ सर्ग से न्यून सर्ग होवें। सभी में सूर्योदय का वर्णन है, चन्द्रोदय का वर्णन है, प्रातःकाल का वर्णन है, सायंकाल का वर्णन है, शिकार का वर्णन है और विवाह आदि संस्कारों का वर्णन भी है। रामायण महाकाव्य, रघुवंश महाकाव्य, कुमारसम्भव महाकाव्य और नैषध महाकाव्य नायकों के नाम पर रचे गये हैं। किरातार्जुनीयम्, शिशुपाल वध आदि कुछ ऐसे महाकाव्य हैं जिनकी रचना कथानक के आधार पर की गयी है। भट्टि काव्य एक ऐसा महाकाव्य है जिसकी रचना रचनाकार के नाम पर हुई है। इस तरह से वाल्मीकि रामायण से लेकर बाद की परम्परा के जो भी महाकाव्य हैं वे किसी न किसी रूप में महाकाव्यों के लक्षणों का अनुपालन करते हैं और इसी दृष्टि से महाकाव्यों की लक्षण कसौटी पर खरे उतरते हैं।

(स) महाकाव्य दृष्टि से वाल्मीकि रामायण

नायक

वाल्मीकि रामायण का नामकरण नायक के आधार पर किया गया है। यद्यपि इस महाकाव्य में दूसरे और नायक भी हो सकते हैं किन्तु जिस रूप में काव्य की फलश्रुति राम के प्रति हो रही है उसके आधार पर यही प्रकट होता है कि राम ही इस काव्य के नायक हैं। राम एक विशिष्ट नायक, हैं, लक्षण ग्रन्थकारों ने नायक के विषय में यह लिखा है कि नायक विनीत, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय, वाक्पटु, प्रसिद्ध वंशवाला, स्थिर बुद्धिवाला, मान से युक्त, दृढ़ और तेजस्वी होना चाहिए। काव्य के लक्षणों में नायक के लिये यह भी लिखा है कि वह अनेक शास्त्रों का ज्ञाता और धार्मिक होवे।[१]

इस दृष्टि से नायकों के लक्षणों के अनुरूप यदि राम को देखा जाये तो वे वाल्मीकि रामायण में एक आदर्श नायक के रूप में दिखायी देते हैं इसीलिये वाल्मीकि जब राम के व्यक्तित्व का वर्णन करते हैं तो वे यह देखते हैं कि श्रीराम में समुद्र के समान गाम्भीर्य और हिमालय के समान धैर्य है। उनके मन में दूसरों के लिये चिन्ता है, दूसरों के दुःख के प्रति कातरता है और वे संसार के अधिकतम दुर्गुणों से परे हैं। वाल्मीकि का यह दृष्टिकोण है कि संसार की किसी प्रकार की हानि उनमें परिवर्तन नहीं लाती, उनके व्यक्तित्व की महानता उसी तरह से है जैसे अन्धकार भरी काली रात्रि में भी चन्द्रमा अपनी सम्पूर्ण कान्ति से सुशोभित होता है।

१. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा ।।१।।
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ।।२।। दशरूपकम्, पृ. १०९

वे बड़ी से बड़ी हानि को भी सहन करने में सक्षम हैं क्योंकि जब वे वन जाने के लिये उद्यत होते हैं तो उनमें वैसा विकार दिखाई नहीं देता जैसा किसी लौकिक व्यक्ति में दिखाई देता है। यद्यपि राम में लौकिक भावनायें न हों ऐसा भी नहीं है। वे अपने पिता, अपनी माता, प्रजाजन, पत्नी और भाई के प्रति स्नेहवाले हैं। जब वे अपने राज्य निर्वासन का समाचार सुनते हैं तो माँ के अन्तःपुर में जाकर दुःख का निश्वास छोड़ते हुये उन्हें सूचित करते हैं। अन्य भाईयों की अपेक्षा राम में यह विशेषज्ञता है कि वे जिस प्रकार से श्रेष्ठ वंश में उत्पन्न हुये हैं और जिस प्रकार से वे राजनैतिक परिवेश में बढ़े हैं उसी तरह से वे देश काल से अधिक परिचित हैं और जहाँ कहीं दुर्व्यवस्था है उसे ठीक करना चाहते हैं। वनवास का समाचार जानकर वे कैकेयी से इसप्रकार की बात करते हैं ज़िससे परिवार पर आयी हुई विपत्ति का कोई निराकरण निकल सके। इस रूप में राम श्रेष्ठ वंश में उत्पन्न होने वाले, विनयशील और वाक् चातुर्य वाले नायक हैं। इसीलिये वे पिता को सम्बोधित कर कहते हैं कि यह मेरी माता कौशल्या उत्तमशील वाली हैं। अब ये वृद्ध हो गयी हैं, इन्होंने कभी–भी आपका असम्मान नहीं किया है, इस समय ये घोर विपत्ति में हैं और ऐसी विपत्ति इनके जीवन में पहली बार आयी है। इसलिये आप इन्हें पुनः सम्मानित करें।[२]

१. रामश्तुभ्रश्मायस्तो निश्वसन्निव कुञ्जरः ।
जगांमसहितोभ्राताः मातुरन्तापुरं वशी।। वा.रा. २/१७/१

२. यं धार्मिक कौशल्या मम माता यशस्विनी।
वृद्धा चाक्षुद्रशीला च न च त्वां देव गर्हते ।। वा.रा. २/३३/९७

लक्षण ग्रन्थों में नायकों के भेद भी दिये गये हैं। वहाँ पर यह कहा गया है कि नायक ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत भेद से चार प्रकार का होता है।[1] इन सबके लक्षण दिये गये हैं जिनमें यह कहा गया है कि जो चिन्तारहित, कलाओं का प्रेमी, सुखी और कोमल होता है वह नायक धीरललित होता है। जो उत्कृष्ट अन्तःकरण वाला, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, स्वयं की प्रशंसा न करने वाला और दृढ़व्रती होता है वह धीरोदात्त होता है।[2] इसी तरह से जिसमें अहङ्कार अधिक होता है, ईर्ष्या होती है, माया और कपट होता है, क्रोधी और आत्मप्रशंसा करने वाला होता है वह नायक धीरोद्धत होता है। यदि श्रीराम के नायकत्व को देखा जाये तो यह दिखाई देता है कि वे धीरोदात्त नायक हैं। उनकी वाक्पटुता ऐसी है जिसमें वे अपने वाक्चातुर्य से महर्षि परशुराम जैसे उग्र तपस्वी को शान्त करने में सफल हो जाते हैं। इसी तरह वे विश्वामित्र के साथ शस्त्र–शास्त्र का ज्ञान अर्जित करते हैं और अपनी विनयशीलता से इस प्रकार का व्यवहार करते हैं, जिससे उनकी कुलीनता प्रकट होती है।

....

१. दश. रू., पृ० ११३
२. महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः ।। दश. रू., पृ. ११६

रस दृष्टि

महाकाव्य के लक्षणों में यह कहा गया है कि इनमें श्रृंगार अथवा वीर में से कोई एक मुख्य रस होना चाहिए। वाल्मीकि रामायण के सन्दर्भ में यदि देखा जाये तो हमें यह दिखाई देता है कि इस महाकाव्य में वीर अथवा श्रृंगार को मुख्य रस न मानकर करुण रस को महत्त्वपूर्ण ढंग से स्थापित किया गया है। काव्य–लक्षणों में यद्यपि यह निरूपित है कि मुख्य रस के रूप में श्रृंगार अथवा वीर को ही प्रमुख रस के रूप में स्थापित किया जाना चाहिए किन्तु वाल्मीकि ने अन्य रसों को यथास्थान प्रयुक्त करते हुये भी करुण को अपने काव्य के प्रमुख अङ्ग के रूप में निरूपित किया है।

रस की जो परिभाषा की गई है उसमें यह कहा गया है कि विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा जो आस्वादन योग्य स्थायी भाव होता है वह रस कहा जाता है।[१] इसीलिये नाट्य शास्त्र में कहा गया है कि 'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगादरसनिष्पत्तिः।'[२] अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इसी प्रकार से आचार्य विश्वनाथ ने भी रस की परिभाषा की है। उन्होंने लिखा है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव के द्वारा व्यक्त रति आदि के स्थायी भाव वाला रस होता है। यह रस सरस चित्त वालों को रसवान् बनाता है।[३] अर्थात् काव्य का रस उन्हीं को रसवान् बनाता है जो सहृदय चित्त वाले होते हैं और जिनका हृदय रसवत्ता की अनुभूति करता है। काव्यप्रकाशकार की दृष्टि भी कुछ इसीप्रकार की है।[४]

---

१. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ दश. रू., पृ. २५७

२. ना. शा. अध्याय ६, पृ. २७२

३. विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिका तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचतेसाम् ॥ सा.द. ३/१

४. का.प्र. ४/४३

समीक्षाकारों द्वारा वाल्मीकि रामायण के प्रमुख रस के रूप में करुण रस की मुख्य रस के रूप में प्रतीति होने के बाद जब करुण रस के लक्षण पर दृष्टिपात किया जाता है तो वहाँ पर लक्षण ग्रन्थकारों ने यह प्रतिपादन किया है कि करुण रस का स्थायी भाव शोक है। यह इष्ट के नाश तथा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् निश्वास, उच्छ्वास, रुदन, स्तम्भ तथा प्रलाप आदि अनुभाव होते हैं। निद्रा, अपध्मात, दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य, सम्भ्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिन्ता इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।[1]

आचार्य विश्वनाथ ने भी करुण रस का लक्षण देते हुये अपना मन्तव्य इसी प्रकार से दिया है। उन्होंने यह लिखा है कि इष्ट के विनाश से अनिष्ट की प्राप्ति से करुणा नामक रस कहा जाता है। शोक इस रस का स्थायी भाव है और जो शोच्यमान है वह आलम्बन है। दैव निन्दा, क्रन्दन आदि अनुभाव हैं, विषाद, चिन्ता, जड़ता आदि व्यभिचारी भाव हैं।[2]

काव्य प्रकाश के हिन्दी व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर लिखते हैं कि हास्य से विपरीत करुण रस ही है। अपने प्रियतम के विनाश के निश्चय होने पर करुण रस की सीमा प्रारम्भ होती है। इनकी दृष्टि से यह रस निरपेक्ष रस माना जाता है।[3]

....

१. इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनु तम् ।
निश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ।। दश. रू., पृ. ३९६

२. इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् ।
शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम् ।
अनुभावा दैवनिन्दाभूपातक्रन्दितादयः ।
विषादजऽतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ।। सा. द., पृ. २८६

३. का. प्र., पृ. ११५

वाल्मीकि रामायण यद्यपि एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें सभी रसों का परिपाक पूरी तरह हुआ है किन्तु करुण रस का परिपाक जैसा इसमें है वैसा अन्यत्र दुर्लभ हैं। यह रस इस काव्य का मुख्य रस हैं और इस तरह से प्रस्फुटित है जिससे व्यक्ति के जीवन के सम्पूर्ण अभिप्राय का पता चलता है। इसीलिये आचार्यों ने रामायण में करुण रस को अङ्गीरस माना है। महाराज दशरथ ने राम को वनवास दे दिया। वे रथ पर बैठकर वन के लिये चल देते हैं यह देखकर न केवल पुरजन अपितु वृद्ध से वृद्ध व्यक्ति भी व्यथित हैं। उन्हें वन जाता हुआ देखकर एक वृद्ध ब्राह्मण उन्हें पुकारता है और कहता है कि हे राम! तुम तीव्रगामी अश्वों के रथ पर बैठे हुये वन को मत जाओ, वनगमन से विरत होकर अवध लौट आओ क्योंकि यही तुम्हारे कल्याण का मार्ग होगा।[१]

एक अन्य स्थान पर सीता से वियुक्त होकर रहने में राम के मन की जो वेदना है वह इस रूप में प्रकट हुई है जिस रूप में यह कहा गया है कि सीता का वियोग समय बीतने के साथ–साथ अन्य लोगों के लिये तो कम होता जायेगा किन्तु राम के हृदय में वियोगावस्था का यह शोक कम न होकर और अधिक से अधिक बढ़ता जायेगा।[२] श्रीराम के द्वारा इस प्रकार का अनुभव किया जाना दाम्पत्य जीवन के उस बन्धन को व्यक्त करता है जिसे शब्दों के द्वारा व्यक्त करना सम्भव नहीं होगा। दाम्पत्य बन्धन इस प्रकार का होता है जिसे भारतीय परम्परा में जन्म–जन्मान्तर के रूप में रेखाङ्कित किया जाता है और जिसमें पृथक् होने की कल्पना सहज रूप से नहीं की जाती है।

---

१. ते द्विजास्त्रिविधं वृद्धा ज्ञानेन वयसौजसा ।
वयः प्रकम्पशिरसो दूरादूचुरिदं वचः ।।
वहन्तो जवना रामं भो भो जात्यास्तुरंगमाः ।
निवर्तध्वं न गंतव्यं हिता भवत भर्तरि ।। वा.रा. २/४/१२–१३

२. शोकश्च किल कालेन गच्छता ह्यपगच्छति ।
मम चापश्यतः कान्ताहन्यहनि वर्धते ।। वा.रा. ६/५/४

श्रीराम जब वन जाते हैं और उन्हें वापस करने के लिये पीछे से सुमन्त जाते हैं तो बहुत प्रयत्न करने के बाद भी सुमन्त्र राम और सीता को वापस नहीं ला पाते। वे लौटकर आते हैं और महाराज दशरथ से उस कारुणिक स्थिति का वर्णन करते हैं जो स्थिति उनके सामने तब आयी थी जब वे वापस अयोध्या लौटने लगेथे और राम, लक्ष्मण तथा सीता को अपने साथ नहीं ला सके थे। सुमन्त्र ने महाराज दशरथ से कहा था कि महाराज! जब मैं राम, सीता और लक्ष्मण को वन में छोड़कर चलने लगा था तो सीता ऊँचा उच्छ्वास छोड़ती हुई आत्मविस्तृत सी खड़ी रह गयी थी। वह ऐसी राजकुमारी है जिसने ऐसी विपत्ति पहले कभी नहीं देखी। रुदन करती हुयी वह मुझसे उस समय कुछ नहीं कह सकी थी। जब मैं वापस आने लगा था तो उसके आँखों में आँसू उमड़ आये थे। इसी तरह से भीगे हुये आँसुओंसे दुःखित राम भी लक्ष्मण का सहारा लेकर खड़े रह गये थे।[१]

१. जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती तपस्विनी ।
भूतोपहतचित्तेव विष्ठिता विस्मृता स्थिता ।।
अदृष्टपूर्वव्यसना राजपुत्री यशस्विनी ।
तेन दुःखेन रुदती नैव मां किंचिदब्रबीत् ।।
उद्धीक्षमाणा भर्तारं मुखेन परिशुष्यता ।
मुमोच सहसा वाष्पं मां प्रयान्तमुदीक्ष्य सा।। वा.रा. २/५२/२३–२६

इस रूप में जब हम महर्षि वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत किया गया कारुण्य देखते हैं तो यह प्रतीति होती है कि इस महाकाव्य में करुण रस की प्रस्तुति सम्पूर्ण रीति से हुई है; किन्तु दूसरे रसों का परिपाक भी इससे कम नहीं हुआ। समुद्र जब श्रीराम को मार्ग नहीं देता तो वे क्रोध से काँप उठते हैं और उत्साह से भरे हुये अपनी वीरता को प्रकट करते हैं जिसे वाल्मीकि ने इस रूप में लिखा है कि क्रोध से विस्फारित नेत्रों वाले धनुर्धारी राम प्रलयाग्नि के सदृश जलते हुये दुर्धर्ष बन गये हैं। अपने घोर धनुष को खींचकर बाणों से संसार को कपाते हुये उन्होंने इस प्रकार बाण छोड़े जैसे इन्द्र वज्र छोड़ता है।[१] इस तरह से अन्य स्थानों पर हम यह देखते हैं कि जब युद्ध करने वालों के मन में तरह–तरह के भाव उत्पन्न होते हैं, तो दूसरे रस भी उसी तरह व्यक्त हैं। जब लक्ष्मण को शक्ति लगती है तो एक क्षण के लिये श्रीराम हताश हो जाते हैं और उनके मन में निर्वेद उत्पन्न होता है इससे वे सुग्रीव से कहने लगते हैं कि मित्र! इस समय तुमको भी यहाँ से चल देना चाहिए। मेरे लौट जाने पर रावण अकेला जानकर फिर से तुमसे युद्ध करने आ सकता है। यहाँ पर श्रीराम की हताशा और उनके मन का निर्वेद उत्पन्न होता है।[२]

१. एवमुक्त्वा धनुष्पाणिः क्रोधविस्फारितेक्षणः ।
बभूव रामो दुर्धर्षो युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ।।
सम्पीड्य च धनुर्घोरं कम्पयत्वा शरैर्जगत् ।
मुमोच विशिखानुग्रान् वज्राणीव शतक्रतुः ।।
ते ज्वलन्तो महावेगास्तेजसा सायकोत्तमाः ।
प्रविशन्ति समुद्रस्य सलिलं त्रस्तपन्नगम् ।। वा.रा. ६/१४/१४–१६

२. अस्मिन् मुहूर्ते सुग्रीव प्रतियातुमितोऽर्हसि।
मत्वा हीनं मया राजन् रावणोऽभिद्रवेद् बली ।। वा.रा. ६/३०/२३

वाल्मीकि रामायण में राम—रावण युद्ध के प्रसङ्ग में अनेक ऐसे उदाहरण दिखायी देते हैं जिनमें क्रोध, वीरता और भयानक रस के परिपाक के अनेक दृश्य हैं। जैसे कि उदाहरण के लिये वीरता के रूप में द्वन्द्वयुद्ध में वानरों के द्वारा राक्षसों की पराजय के दृश्य हैं। राक्षसों के पास अनेक प्रकार के अस्त्र—शस्त्र थे किन्तु उनसे प्रतिशोध करने वाले वानर अस्त्र—शस्त्रों से युक्त नहीं थे फिर भी वीरता के उत्साह में भरकर अनेक वानर शत्रु पक्ष के राक्षसों से युद्ध करने लगे। एक ओर अङ्गद के साथ इन्द्रजित लड़ रहा था तो दूसरी ओर जम्बूमाली के साथ हनुमान्जी युद्ध कर रहे थे। वीरता में और बल में अपनी अप्रतिम वीरता तथा बल से प्रचण्ड वेग वाले महाबलि गज तपन नामक राक्षस से लड़ने लगे। महातेजस्वी नील निकुम्भ के साथ युद्ध करने लगा। इसी तरह से वानर राज सुग्रीव के साथ प्रघस ने युद्ध किया और श्री लक्ष्मण के साथ समरभूमि में विरूपाक्ष ने युद्ध करना प्रारम्भ किया। अन्य जो दुर्जय वीर थे जैसे अग्निकेतु, रश्मिकेतु तथा यज्ञकोप आदि वे श्रीराम के साथ युद्ध करने लगे। इसीप्रकार से महाकवि ने इस वीरता और साहस के युद्ध में यह लिखा है कि सभी राक्षस तथा श्रीराम पक्ष वाले वानर अपनी—अपनी विजय चाहते थे। इसलिये वह युद्ध वीरता और उत्साह का युद्ध था।[१]

१. एतस्मिनन्तरे तेषामन्योन्यमभिधावताम् ।
रक्षसां वानराणां च द्वन्द्वयुद्धमवर्तत ।।
अग्निकेतुः सुदुर्धर्षो रश्मिकेतुश्च राक्षसः ।
सुप्तघ्नो यज्ञकोपश्च रामेण सह सङ्गताः ।।
रक्षसां वानराणां च वीराणां जयमिक्षतां ।। वा.रा. (यु.का.), पृ. ४३/४—१६

ऐसा युद्ध जब हुआ तो उस युद्ध के फलस्वरूप वहाँ पर ऐसा भयानक दृश्य उपस्थित हो गया जो भयानक रस की प्रतीति कराने लगा और कहीं–कहीं वह भयानक दृश्य वीभत्स दृश्य में भी परिवर्तित हो रहा था। महाकवि ने वर्णन किया है कि जब ऐसा भयानक युद्ध हुआ और राम तथा रावण के पक्ष के लोग परस्पर एक–दूसरे को आहत करने लगे तो वानरों तथा राक्षसों के शरीरों से निकलकर खून की नदियाँ बहने लगी। बहते हुये खून की उन धाराओं में उन शवों के कटे हुये केश ऐसे जान पड़ रहे थे जैसे जल में बहने वाली सेवार घास हो। खून की उन नदियों में बहने वाले राक्षसों और वानरों के शरीर ऐसे लगते थे जैसे बड़े–बड़े काष्ठ बहे जा रहे हों।[1] कवि द्वारा वर्णित यह दृश्य जहाँ एक ओर भयानकता की प्रतीति कराता है और भयानक दृश्य उपस्थित करता है वहीं इससे भयानक रस की प्रतीति भी होती है।

उस युद्ध की ऐसी परिणति हुयी जिसमें भाले टूटे हुये पड़े थे बाण चारों ओर बिखरे पड़े थे। गद, तोमर और शक्ति भी चारों तरफ छितरा कर पड़े थे। वे रथ जो बड़े–बड़े योद्धाओं को लेकर वेग से चलते थे वे भी टुकड़े–टुकड़े होकर बिखरे पड़े थे। मरे हुये हाथियों के विच्छन्न शरीर चारों ओर फैले हुये थे। घोड़ों के अङ्ग–प्रत्यङ्ग कटकर यत्र–तत्र बिखर गये थे। वानर और राक्षस कटकर आहत होकर पूरी रणभूमि में बिखर गये थे और इस रूप में वह युद्ध भूमि वीभत्स लग रही थी।

••

१. हरिराक्षसदेहेभ्यः प्रभूताः केशशाद्वलाः ।
शरीर संघाटवहाः प्रसुस्त्रुः शोणितापगाः ॥ वा.रा. (यु.का.), ४३/१७

महाकवि वाल्मीकि कुम्भकरण की भयदायक स्थिति का वर्णन कर लिखते हैं कि उसके समक्ष न जाने कितने सुअर और भैसे भोजन के लिये एकत्रित किये गये थे। जब वह जगा तो सबसे पहले उसने अपनी भूख मिटाने के लिये अनेक भैंसों और सुअरों को खाया। भरपेट मांस खाने के पश्चात् उसने रक्तपान किया और इसके बाद उसने मदिरा तथा चर्बी से भरे हुये कितने घड़े पिये। कवि के वर्णन में जहाँ कुम्भकरण की भयानकता दिखायी देती है वहीं उसके भोजन का दृश्य वीभत्स स्थिति उपस्थित करता हुआ दिखायी देता है। यह कवि की रस प्रस्तुति की कला है।[१]

राम—रावण युद्ध में जब श्रीराम ने रावण का वध किया तो राम का उत्साह और शौर्य कवि की लेखनी से शब्दबद्ध हुआ है। उनकी वीरता कवि द्वारा प्रस्तुत इन शब्दों से व्यक्त हुयी है जिसमें वे वर्णित करते हैं कि जब श्रीराम ने बाण सन्धान किया तो सभी प्राणी थर्रा उठे और एक क्षण के लिये पृथ्वी डोलने लगी। जिस तरह इन्द्र का वज्र दुर्धर्ष होता है उसी तरह से दुर्धर्ष राम के बाण ने रावण के हृदय को विदीर्ण कर दिया।[२] इस रूप में महाकवि वाल्मीकि की रस प्रस्तुति महाकाव्य के लक्षणों के अनुरूप ही है।

१. ऊर्ध्वलोमञ्चिततनुं श्वसन्तमिव पन्नगम्।
भ्रामयनतं विनिःश्वासैः शयानं भीमविक्रमम् ॥
भीमनासापुटं तं तु पातालविपुलाननम् ।
शयनेन्यस्तसर्वाङ्गं मेदोरुधिरगन्धिनम् ॥ वा.रामयण (यु.का.) ६०/२८—२९
ततस्दवदर्शयन् सर्वान् भक्ष्याश्चं विविधान् बहून् ।
वराहान् महिषांश्चैव वभक्ष स महाबलः ॥
आदद् बुभुक्षितो मांसं शोणितं तृषितोऽपिबत् ।
मेदःकुम्भांश्च मद्यांश्च पपौ शक्ररिपुस्तदा ॥ वही, ६२—६३

२. वही, पृ. १०८/१५—१८

वाल्मीकि वर्णन करते हैं कि वानरों और राक्षसों के धड़ से उनके मस्तक कट गये थे और उनके धड़मात्र पूरी युद्ध भूमि में बिखर गये थे। रक्तपान के लोभी निशाचर रक्त की गन्ध से मतवाले हो रहे थे और इस तरह सम्पूर्ण दृश्य इस प्रकार था जो वीभत्स रस की प्रस्तुति कर रहा था।[१]

एक दृश्य और इस प्रकार का दिखायी देता है जो भयानक और वीभत्स का मिला जुला रूप है। राम–रावण युद्ध में जब रावण की सेना पराजित हो रही थी तब रावण को यह स्मरण आया कि अब कुम्भकरण का उपयोग करना चाहिए। उसने राक्षसों को कुम्भकरण को निद्रा से जगाने के लिये भेजा। कवि ने कुम्भकरण की भयानकता का वर्णन करते हुये लिखा है कि वह बिखरे हुये पर्वत की तरह फैला हुआ विकृत अवस्था में सो रहा था, उसका पूरा का पूरा शरीर रोमावली से भरा हुआ था जो सर्प के समान साँस लेता था और अपने निश्वासों से सभी को चकित कर देता था। उसकी नासिका के दो बड़े छिद्र पहाड़ की गुफाओं की तरह थे और मुँह पाताल की तरह था। उसका पूरा का पूरा शरीर शैय्या पर पड़ा हुआ था, वह खर्राटे लेकर सो रहा था, उसकी देह से रक्त तथा चर्बी की गन्ध प्रकट हो रही थी, यह उसकी भयानकता का दृश्य है।

---

१. भल्लैश्चान्यैर्गदाभिश्च शक्तितोमरसायकैः।
अपविद्धैश्चापि रथैस्तथा सांग्रामिकैर्हयैः ॥
निहितैः कुञ्जरैर्मत्तैस्तथा वानरराक्षसैः ।
चक्राक्षयुगदण्डैश्च भग्नैर्धरणिसंश्रितैः ॥
बभूवायोधनं घोरं गोमायुगणसेवितम् ।
कबन्धानि समुत्पेतुर्दिक्षु वानररक्षसाम् ॥
विमर्दे तुमुले तस्मिन् देवासुररणोपमे ॥
निहन्यमाना हरिपुङ्गवैस्तदा
निशाचराः शोणितगन्धमूर्च्छिताः ।
पुनः सुयुद्धं तरसा समाश्रिता
दिवाकरस्यास्तमयाभिकाङ्क्षिणः ॥ वा.रा. (यु.का.)४३/४३–४६

महाकाव्यों में जिस रूप में सूर्य वर्णन, चन्द्र वर्णन, ऋतुओं का वर्णन और वन वर्णन किया जाना चाहिए, वाल्मीकि रामायण में उसका वर्णन भी भली प्रकार से किया गया है। एक स्थान पर वर्णन है कि श्रीराम और लक्ष्मण वन में जाते हैं और वन का दृश्य देखकर प्रसन्न होते हैं। श्रीराम वन की शोभा दिखाते हुये सीता से कहते हैं कि जनक–नन्दिनी इस वसन्त ऋतु में पलाश वृक्षों को देखो जो सभी ओर से खिले हुये हैं। ये वृक्ष अपनी ही पुष्पराशि से ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे इन्होंने स्वयं के पुष्पों से माला धारण कर ली हो। अथवा ये ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे अपनी चोटियों पर प्रज्ज्जवलित होवें।[१] श्रीराम ने लक्ष्मण से कहा कि उस वृक्ष को देखो जिसमें मधुमक्खियों द्वारा लगाये मधु के छत्ते लटक रहे हैं और वन का वह भाग बड़ा ही रमणीय है जहाँ वृक्षों से पुष्प वर्षा सी हो रही है और सम्पूर्ण भूमि पुष्पों से आच्छादित दिखायी दे रही है। यह चातक पी की आवाज कर रहा है और दूसरी ओर मयूर मानो पपीहे का उत्तर दे रहा है। यह चित्रकूट का पर्वत है जिसका शिखर बहुत ही ऊँचा है। झुण्ड–झुण्ड हाथी उधर की ओर जा रहे हैं और बहुत से पक्षी चहक रहे हैं ऐसा यह वन हैं जिसमें हम विचरण करेंगे।[२]

---

१. आदीप्तानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान् नगान् ।
स्वैः पुष्पैः किंशुकान् यश्च मालिनः शिशिरात्मये ।। वा.रा. (अ.का.) ५६/६

२. पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बानानि लक्ष्मण ।
मधूनि मधुकारीभिः सम्भृतानि नगे नगे ।।
एष क्रोशाति नृत्यूहस्तं शिखी प्रतिकूजति ।
रमणीये वनोद्देशे पुष्पसंस्तर संकटे ।।
मातङ्.यूथानुसृतं पक्षिसंधानुनादितम् ।
चित्रकूटमिम् पश्य प्रवृद्धशिखरं गिरिम् ।। वा.रा. (अ.का.) ५६/८–१०

श्रीराम जब भ्रमण करते हुये शबरी के आश्रम में पहुँचे तो वहाँ पर उन्होंने वन का जैसा मनोरम दृश्य देखा, वह भी सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। वहाँ पर पुण्यात्मा महर्षियों के पवित्र आश्रम हैं जिसके आस–पास हरिण और बाघ परस्पर एक दूसरे का विश्वास करते हुये घूम रहे हैं और कोई किसी का अविश्वास नहीं करता। वहाँ पर ऋष्यमूख पर्वत है जिसके ऊपर फलों से लदे हुये वृक्ष हैं। इस प्रकार का सुन्दर वन देखकर श्रीराम सीता सहित आनन्द का अनुभव करते हैं।

महाकवि ने जिसप्रकार से अपनी मनोरम भाषा के द्वारा वनों की सुन्दरता का चित्रण किया है उसी तरह से सरोवरों और नदियों का वर्णन भी कवि ने अपनी काव्य–शक्ति से आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया है। भगवान् श्रीराम जब पम्पा सरोवर के पास पहुँचते हैं तो उस सरोवर का स्वच्छ पीने योग्य जल देखकर आनन्द का अनुभव करते हैं। कवि ने उस सरोवर का और उस तट का जैसा रम्य वर्णन किया है वह अनूठा है। उसके तट पर तिलक, अशोक, नागकेशर आदि के वृक्ष शोभा बढ़ा रहे हैं। उसका जल कमल पुष्पों से आच्छादित था और स्फटिक मणि के सदृश स्वच्छ दिखायी देता है। जल के नीचे स्वच्छ बालुका फैली थी, मत्स्य और कच्छप उसमें भरे थे तटवर्ती वृक्ष उस सरोवर की शोभा बढ़ा रहे थे। किन्नर, नाग, गन्धर्व और यक्ष उसका सेवन करते थे। अनेक प्रकार के वृक्षों और लताओं से व्याप्त पम्पा सरोवर शीतल जल की सुन्दर निधि सा था। वह सरोवर कमलों की अरुणिमा से ताम्र वर्ण के, कुमुद के कुसुमों से धवल और नीलकमलों के समुदाय से नील वर्ण का दिखायी देता था। उसमें अरविन्द और उत्पल खिले हुये थे, पद्म तथा सौगन्धिक जाति के पुष्प शोभा पा रहे थे और वह सरोवर

चारों ओर आम की अमराई से सुन्दरतम प्रतीत हो रहा था तथा उसके चारों ओर मयूर नाद कर रहे थे। ऐसा वह सरोवर था।[१]

महाकवि वाल्मीकि ऋतु वर्णन में भी अपनी दक्षता प्रकट करते हैं। उन्होंने हेमन्त का वर्णन करते हुये लिखा है कि इस ऋतु में सूर्य देव दक्षिण दिशा का सेवन करते हैं इसलिये उत्तर दिशा सूर्य की अरुणिमा से वञ्चित सिन्दूर बिन्दु से वञ्चित नारी की भाँति सुशोभित नहीं होती है। हिमालय स्वभाव से ही घनीभूत हिम के खजाने से भर गया है। इस समय सूर्य देव ने भी दक्षिण दिशा की ओर चले जाने के कारण हिमालय का परित्याग कर दिया है। इस रूप में हिमालय हिम का आलय होने के कारण अपने नाम को सार्थक करता है। इस ऋतु में मध्याह्न का सूर्य और उसकी उष्णता अत्यन्त सुखकर होती है इसलिये सभी का इधर—उधर विचरण सहज और स्वाभाविक होता है। हेमन्त ऋतु के दिन ऐसे होते हैं जब पाला पड़ जाने से वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं।

....

१. तिलकाशोकपुंनागबकुलोद्दालकाशिनीम् ।
रम्योपवनसम्बाधां पद्मसम्पीडितोदकाम् ।
स्फटकोपमतोयां तां लक्ष्णवालुकसंतताम् ।।
मत्स्यकच्छपसम्बाधां तीरस्थद्रुमशोभिताम् ।
सखीभिरिव संयुक्तां लताभिरनुवेष्टिताम् ।।
किंनरोरगगन्धर्वयक्षराक्षससेविताम् ।
नानाद्रुमलताकीर्णो शीतवारिनिधिं शुभाम् ।।
पद्मसौगन्धिकैस्ताम्रां शुक्लां कुमुदमण्डलैः ।
नीलां कुवलयोद्घाटैर्बहुवर्णो कुथामिव ।।
अरविन्दोत्पलवर्ती पद्मसौगन्धिकायुताम् ।
पुष्पिताम्रवणोपेतां बर्हिणोद्धुष्टनादिताम् ।। वा.रा. (अरण्य) ७५/१६—२०

वन सूने दिखायी देने लगते हैं तब हिम का ऐसा दुष्प्रभाव होता है कि कमल भी गलने लगता है। चन्द्रमण्डल हिम कणों से आच्छन्न होकर धूमिल जान पड़ता है, जो निश्वास युक्त मलिन दर्पणकी भाँति प्रकाश युक्त नहीं होता। स्वभावसे ही शीतल स्पर्श वाली पश्चिम दिशा से बहने वाली हवा हिम कणों से व्याप्त हो जाने के कारण दूनी सर्दी लेकर वेग से बह रही है। कुहासे से ढकी और फैलती हुयी किरणों से उपलक्षित होने वाले सूर्य चन्द्र देव के समान दिखायी देते हैं। इस समय अधिक लाल और कुछ–कुछ श्वेत तथा पीत वर्ण की धूप पृथ्वी पर फैलकर शोभा पा रही है। पूर्वान्ह के समय इस धूप का अनुभव नहीं होता किन्तु मध्याहन काल में इसके स्पर्श का अनुभव होता है।[1]

इस रूप में लक्षणग्रन्थकारों ने महाकाव्यों के लिये जिन लक्षणों का कथन किया है उनका समावेश किसी न किसी रूप में वाल्मीकि ने अपने इस काव्य ग्रन्थ में किया है और इससे यह महाकाव्य के गुणों से समन्वित दिखायी देता है।

१. प्रकृत्या हिमकोशाढयो दूरसूर्यश्च साम्प्रतम् ।
यथार्थनामा सुव्यक्तं हिमवान् हिमवान् गिरिः ॥
अत्यन्तसुखसंचारा मध्याह्ने स्पर्शतः सुखाः ।
दिवसाः सुभगादित्याश्छायासलिलदुर्भगाः ॥
मृदुसूर्याः सुनीहाराः पटुशीताः समारूताः ।
शून्यारण्या हिमध्वस्ता दिवसा भान्ति साम्प्रतम् ॥
निवृत्ताकाशशयनाः पुष्यनीता हिमारूणाः ।
शीतवृद्धतरायामस्त्रियामा यान्ति साम्प्रतम् ॥
रविसंक्रान्त शोभाग्यस्तुषारारुणमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥
प्रकृत्या शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम् ।
प्रवाति पश्चिमो वायुः काले द्विगुणशीतलः ॥
खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः ।
शोभन्ते किंचिदालम्बाः शालयः कनकप्रभाः ॥ वा.रा. (अरण्य) १६/९–१७

(द) वाल्मीकि रामायण का रचनाकाल

वाल्मीकि रामायण के रचनाकाल के विषय में विचार करते हुये यह कहा जाता है कि वाल्मीकि रामायण का एक रूप वह है जिसे मूल रामायण कहा गया है अर्थात् जिसमें प्रक्षिप्त अंश सम्मिलित नहीं है। इस महाकाव्य का एक दूसरा रूप वह है जो वर्तमान समय में प्रचलित है और जिसमें अनेक विद्वानों ने अपने कुछ स्वरचित श्लोकों को सम्मिलित कर इसका यह कलेवर प्रस्तुत किया। रामायण के रचनाकाल के विषय में विचार करते समय जो कठनाईयाँ उपस्थित होती हैं उसके कारण यह हैं कि इसमें रचनाकाल के विषय में किसी समय विशेष का निर्देश नहीं किया गया। दूसरी बात यह है कि अनेक पाश्चात्य विद्वान् श्रीराम की ऐतिहासिक स्थिति पर सन्देह व्यक्त करते हैं। इसी तरह से जब रामायण के रचनाकाल पर विचार होता है तो इस सम्बन्ध में न अन्तरङ्ग प्रमाण प्राप्त हैं और न ही वाह्य प्रमाण प्राप्त हैं। इसी प्रकार से जब यह कहा जाता है कि वाल्मीकि रामायण की रचना वैदिक–साहित्य के रचे जाने के पश्चात् हुई तो यह अनिश्चय होता है क्योंकि वैदिक साहित्य स्वयं में अपने रचनाकाल के लिये अनिश्चित है।[१]

इन सब कठिनाईयों के होते हुये भी अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने वाल्मीकि रामायण की रचना के विषय में अपना मत दिया है जिसमें यह कहा गया है कि वाल्मीकि रामायण का मूल रूप देखने पर यह ज्ञात होता है कि इसमें बौद्ध सन्दर्भों का उल्लेख नहीं है इसलिये इसकी रचना बौद्धकाल के पूर्व हुई होगी।[२] इसी तरह से अन्य विचारकों ने भी अपने मत दिये हैं और उनके आधार पर एक पाश्चात्य विद्वान् कीथ ने यह मत व्यक्त किया है कि वाल्मीकि रामायण में जो भी परिवर्तन और परिवर्द्धन हुये हैं वे दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के बाद के नहीं हैं।[३]

....

१. स. सा. स. इ. पृ. १०७

२. ए. हि. स. लि., पृ. २५७

३. वही (कीथ) पृ. १२

एक दूसरा पाश्चात्य विद्वान् यह मत देता है कि रामायण का रचनाकाल ईसवीय की पहली शताब्दी हो सकता है। ऐसा मत व्यक्त करते हुये यह कहा गया हैं कि तब तक भारत पर ग्रीक का प्रभाव पड़ चुका था औरवाल्मीकि रामायण किसी न किसी रूप में उस प्रभाव से कहीं न कहीं प्रभावित है।[१] जहाँ तक भारतीय विद्वानों का मत है वह इन मतों से भिन्न प्रकार का है। एक भारतीय विद्वान् यह कहते हैं कि पाश्चात्य विद्वानों का यह मत उचित नहीं है जिसमें यह कहा जाता है कि रामायण की रचना प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के आस–पास हुई होगी। अधिक तर्क सङ्गत तथ्य यह है कि वाल्मीकि रामायण की रचना पाणिनि के समय से पूर्व ही हुई होनी चाहिए। ऐसा इसलिये कहना उचित होगा क्योंकि वाल्मीकि रामायण में जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है उसमें अनेक स्थानों पर पाणिनि के व्याकरण के सिद्धान्तों की अवहेलना की गयी है। इस तथ्य को ध्यान में रखने पर यह सिद्धान्त ही उचित प्रतीत होता है कि वाल्मीकि रामायण की रचना छठी शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व तक हो चुकी होगी।[२]

पुराणों पर विस्तार से विचार करने वाले पार्जीटर का यह मत है कि महाभारत का युद्ध लगभग ९५० वर्ष ईसा पूर्व में हुआ होगा। इस स्थिति में यदि राम–रावण के युद्ध और कौरव–पाण्डवों के युद्ध के बीच लगभग पाँच शताब्दियों का समय रहा होगा तो रामायण का रचनाकाल १५०० वर्ष ईसवीय पूर्व का होना चाहिए।[३]

१. द. हि. ई. लि., पृ. १९२
२. रा. का. स., पृ. ५
३. ए. इ. हि. ट्र. पृ. १८२

(य) रचनाकार

महर्षि वाल्मीकि संस्कृत काव्य–परम्परा के प्रथम कवि में रूप में प्रतिष्ठित हैं। इन्हें बाद के कवियों ने आदि कवि के रूप में कहा है।[1] महर्षि वाल्मीकि को आदि कवि कहना अथवा महर्षि कहना इसलिये सार्थक है क्योंकि इनके पहले यद्यपि रचनायें तो हो रहीं थीं किन्तु ऐसी सार्थक रचनायें नहीं थीं जो सामाजिक सन्दर्भ में प्रभावित करने वाली हों। महर्षि वाल्मीकि ही ऐसे थे जो प्रथम मनीषी थे और जिन्होंने इस आदि काव्य की रचनाकर एक ऐसे महाकाव्य का सृजन किया जो जन भावनाओं को मुख्य रूप से व्यक्त करता था। एक जनश्रुति इसप्रकार की है कि वे एक दिन स्नान कर नदी से लौट रहे थे जब उन्होंने एक बहेलिये द्वारा आघात किये जाने पर आहत क्रौञ्च पक्षी को देखा और उस स्थिति में क्रन्दन करती हुई पक्षिणी की पीड़ा से व्यथित हुये। तब आकस्मिक रूप से उनके मुख से एक श्लोक स्वयं ही निकल गया जो संस्कृत काव्य–परम्परा का आदि श्लोक बन गया। यही वह श्लोक है जो एक साथ कवि की करुणा को और क्रौञ्च पक्षी के वियोग श्रृङ्गार को एक साथ व्यक्त करता है। इस स्थिति में महाकवि वाल्मीकि ने राम को नायक बनाकर न केवल अपने काव्य से जन रञ्जन किया अपितु एक ऐसी जीवन दृष्टि विकसित की जिस दृष्टि के आलोक में पूरे समाज को बाँधा जा सकता था। इसी भावना से आबद्ध होकर उन्होंने चौबीस हजार श्लोकों से युक्त वाल्मीकि रामायण की रचना की। इसी रचना को आदि महाकाव्य कहा गया और इसी रचना को आधार बनाकर अनेकों महाकवियों ने अपने–अपने काव्य की रचना कर संस्कृत–परम्परा को सञ्चालित रखा, जो परम्परा आज भी किसी न किसी रूप में चल रही है।

....

१. उ. रा. पृ. अङ्क २

दूसरे अन्य भारतीय विद्वान रामायण के रचनाकाल के विषय में यह मत देते हैं कि महाभारत का युद्ध ईसा पूर्व १५०० वर्ष के लगभग हुआ होगा और इस स्थिति में यदि रामायण के रचनाकाल का विचार करें तो इसका युग १९०० वर्ष ईसा पूर्व का लगभग का रहा होगा।[१] भारतीय परम्परा यह है कि श्रीराम का अवतार त्रेता युग में हुआ था। त्रेता युग आज से लगभग ८ लाख ६९ हजार वर्ष पूर्व का माना जाता है। इस आधार पर यदि रामायण की रचना का विचार किया जाये तो इसकी रचना लाखों वर्ष पूर्व हुई होनी चाहिए।[२]

इस प्रकार से वाल्मीकि रामायण के रचनाकाल के विषय में और भी अनेकों मत हैं किन्तु किसी भी मत को इदमित्थम् रूप में कहकर यह नहीं कहा जा सकता कि कोई एक मत ही प्रामाणिक है।

जहाँ तक वाल्मीकि रामायण के अन्तः प्रयोगों के अनुसार इसका रचनाकाल देखा जाता है तो वहाँ पर अर्थात् वाल्मीकि रामायण में कोशल राज्य की राजधानी को अयोध्या नाम दिया गया है। बौद्ध ग्रन्थों और जैन ग्रन्थों में अयोध्या का नाम साकेत है। इस आधार पर रामायण का रचनाकाल महावीर और बुद्ध से पूर्व का होना चाहिए।[३] बौद्ध से पूर्व विशाला और मिथला स्वतंत्र राज्य थे। बुद्ध के समय दोनों को मिलाकर वैशाली हो गये। पालि ग्रन्थों में वैशाली नाम का उल्लेख व्रजि नाम से किया गया है। रामायण में वैशाली का उल्लेख न होकर विशाला और मिथला का पृथक्–पृथक् उल्लेख है।[४] विशाला के राजा सुमति हैं और मिथला के सीरध्वज जनक।[५] इससे भी रामायण की रचना बुद्ध पूर्व प्रतीत हुई होती है।

---

१. हि. पा., पृ. ३५२
२. सू. सि., पृ. १४–१७
३. वा. रा. (बाल.) ५/६
४. वा. रा. (बाल.) ४५/८
५. वही, बा. का. सर्ग ५०

महर्षि वाल्मीकि को लेकर भी अनेक प्रकार के भ्रम हैं। इनका परिचय अनेक रूपों में विविध सन्दर्भों में मिलता है जैसे कि एक सन्दर्भ में व्याकरणकार के रूप में वाल्मीकि का परिचय मिलता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में पकार उत्तरवर्ती शकार के छकार का निषेध किया गया है। यह निषेध वाल्मीकि के मतानुसार है।[१] इसी प्रकार से 'यः कामयेत' आदि उदाहरण में पूर्व विधि का निषेध कियागया है तथा प्रणव का उदात्त भी वाल्मीकि के अनुसार प्रदर्शित किया गया है।[२]

एक दूसरे सन्दर्भ में वाल्मीकि को व्यास के रूप में भी कहा जाता है। विष्णु पुराण के एक उदाहरण में यह निर्देश किया गया है। विष्णु पुराण के एक उदाहरण में यह निर्देश किया गया है कि छब्बीसवें द्वापर युग में अठ्ठाईस व्यासों में से एक व्यास भृगुवंशी भी हुये हैं जो वाल्मीकि कहे गये हैं।[३] इसी प्रकार से अन्य पुराणों में भी ऐसे सन्दर्भ हैं जिनमें वाल्मीकि को व्यास के रूप में मान्यता मिली है।[४]

महाभारत में यह विवरण आया है जिसमें वाल्मीकि ने यह बताया है कि पूर्व समय में एक बार उन्हें ब्राह्मन्य कहा गया था; किन्तु जैसे ही उन्होंने भगवान् शङ्कर की स्तुति की थी वैसे ही वे इस दोष से मुक्त हो गये थे। इस रूप में महर्षि वाल्मीकि को शिव भक्त के रूप में बताया गया है।[५]

---

१. तै. प्र. ५/३६
२. वही, ९/४; १८/६
३. वि. पु. ३/३/१८
४. लि. पु. १/२४; स्क. पु. १/२/४०
५. म. भा. अनु. पर्व. १८/८–१०

महर्षि वाल्मीकि को भृगुवंशी कहा गया है। यह कथन स्वयं वाल्मीकि रामायण में दिया गया है जिसमें लव–कुश ने चौबीस हजार श्लोकों की रचना करने वाले रामायण के रचनाकार वाल्मीकि को भार्गव कहा है।[१]

महाकवि अश्वघोष ने अपने महाकाव्य बुद्धचरितम् में वाल्मीकि को च्यवन पुत्र कहा है। इस रूप में वे च्यवन ऋषि के पुत्र कहे जा सकते हैं। अद्भुत रामायण में एक ऐसा प्रसङ्ग आया है, जिसमें यह कहा गया है कि महर्षि वाल्मीकि ने सर्वप्रथम शतकोटि श्लोकों में विस्तृत रामायण की रचना की थी जो ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित है।[३] वायु पुराण में एक ऐसा और सन्दर्भ है जिसमें यह सङ्केत आया है कि रोहिणी और पौरवी के पिता का नाम वाल्मीकि था।[४] अध्यात्म रामायण का यह सङ्केत दिया गया है कि तपस्या करते–करते इनके शरीर पर वाल्मीकि जम गया था जिसे लोक भाषा में वामी कहा जाता है। ऋषियों ने उससे निकालकर इनका नाम वाल्मीकि रख दिया था।[५]

इसीप्रकार से कोई इन्हें किरात, व्याध और दस्यु के रूप में कहता है तो कोई इन्हें प्राकृत सूत्रकार के रूप में कहता है। इसी तरह से कोई और भी अनेक नामों तथा सन्दर्भों से इन्हें स्मरण करता है और यह कहता है कि वाल्मीकि को ज्ञान की प्राप्ति विष्णु, भास्कर, सप्तर्षि, नारद, ब्रह्मा आदि से हुई थी। जो भी हो रामायण के रचनाकार वाल्मीकि का ज्ञान कल्प भेद से कर लेना चाहिए।[६]

---

१. सन्निबद्धं हि लोकानां चतुर्विंशत् सहस्त्रम् ।
उपाख्यानशतं चैव भार्गवेण तपस्विनः ।। वा.रा. ७/९४/२५

२. वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यम् जग्रन्थपन्नच्वनोमहर्षिः ।। बु. च. १/४३

३. अद्भुत रा. १/३

४. वा. पु. ९६/१६१

५. अध्या. रा. २/६/८६

६. म. वा., पृ. १३

तृतीय अध्याय

(वाल्मीकि रामायण में
लोक नीति एवं आचार)

तृतीय अध्याय
(वाल्मीकि रामायण में लोकनीति एवं आचार)

वर्णव्यवस्था

प्राचीन भारतीय व्यवस्था में इस प्रकार का सामाजिक आधार तैयार किया गया था जिसमें सभी के लिये पृथक्–पृथक् कार्यों का निर्धारण था और सभी के पास अपने–अपने अधिकार तथा कर्तव्य थे। इससे यह होता था कि तब न कोई व्यक्ति अपने अधिकारों के अतिरिक्त दूसरे के अधिकारों की अपेक्षा करता था और न ही कोई ऐसा होता था जो अपने कर्तव्यों की उपेक्षा कर समाज में उदासीनता फैलाकर समाज को अव्यवस्थित करता था। सभी यह जानते थे कि उनके अधिकार क्या हैं और उन्हें किन कर्तव्यों का पालन करना है। यह जानकर सभी के सभी सामाजिक नियमों के दायित्व में बंधकर अपने कर्तव्यों का सम्पादन करते थे और अपने अधिकारों का उपयोग करते थे। तब इस व्यवस्था को लागू करने के लिये वर्णव्यवस्था का आश्रय लिया गया था और इस व्यवस्था में सभी के अपने कर्तव्य और अधिकार निहित कर दिये गये थे। यह वर्णव्यवस्था यद्यपि उपनिषद् और उपनिषदोत्तर काल से बाद के समय में भली प्रकार लागू हुई किन्तु इसकी परिकल्पंना वैदिक काल से ही की जा चुकी थी। इसका सङ्केत ऋग्वेद के उस सूक्त में है जिसमें यह कहा गया है कि ईश्वर के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पादों से शूद्र उत्पन्न हुये।[१] वैदिक कालीन इस व्यवस्था में न केवल इन चारों वर्णों की उत्पत्ति का सङ्केत है अपितु एक विद्वान् यह सङ्केत करते हैं कि इस मन्त्र से आभास मिलता है कि सभी लोग अपने अपने सम्पूर्ण मन से अपने कर्तव्यों का पालन करें।[२]

१. ऋक् १०/९०/१२

२. प्रा. भा. सा. भू., पृ. २९

जब हम वाल्मीकि रामायण का अवलोकन करते हैं तो वहाँ पर भी वर्णव्यवस्था का स्वरूप कुछ इसीप्रकार का दिखायी देता है। वाल्मीकि रामायण में एक स्थान पर कहा गया है कि महात्मा कश्यप ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को मनुष्य रूप में जन्म दिया।[१] वैदिक तथा वेदोत्तर कालिक परम्परा में जहाँ पुरुष रूप ब्रह्म से चारों वर्णों की उत्पत्ति कही गयी है वहाँ वाल्मीकि रामायण में कश्यप से चार वर्णों की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है। इन चारों वर्णों की उत्पत्ति का क्रम वही है जिसमें यह निरूपित है कि उनके मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुये, वक्ष स्थल से क्षत्रिय उत्पन्न हुये उरुओं से वैश्य उत्पन्न हुये तथा पगों से शूद्रों का जन्म हुआ।[२]

इस उत्पत्ति के बाद जब चारों वर्णों के कर्तव्यों का निर्देश किया गया तो यह कहा गया कि ये चारों वर्ण अपने—अपने कार्यों में सदा निरत रहते हैं। अयोध्या में रहने वाले श्रेष्ठ वर्गों के जीवन का विवेचन करते हुये यह कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी अपने कार्यों में सदा नितर रहते हैं।[३]

मुख, भुजायें, उरु और पगों से चारों वर्णों की उत्पत्ति होने के कारण जैसा इन कार्यों का विभाजन किया गया है उस पर एक विदुषी का यह मत है कि ब्राह्मणों का कार्य शिक्षा देना था इसलिये उनकी उत्पत्ति मुख से बताई गयी जो बुद्धि और वाणी का स्थान है। क्षत्रियों का कार्य शस्त्र धारण करना था इसलिये उनकी उत्पत्ति वक्षस्थल से बतायी गयी जो साहस का सूचक है क्योंकि वे साहसपूर्वक शस्त्र धारण करते थे। इसी तरह से जब वैश्यों

१. मनुर्मनुष्यां जनयत् कश्यपस्य महात्मनः ।
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्या शूद्रांश्चमनुजर्षभ ।। वा . रा. (अरण्य.) १४/१९

२. मुखतो ब्राह्मण जाता उरसः क्षत्रियास्तथा ।
उरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पद्‌भ्यां शूद्रा इति श्रुतिः ।। वही १४/३०

३. वा. रा. (अयो.) १००/४१

की उत्पत्ति जङ्घाओं से बतायी गयी तो उसका अभिप्राय था कि जङ्घायें श्रम पूर्वक कार्य कर सकती हैं इसलिये वैश्य श्रमपूर्वक कार्य करें और धन का उत्पादन करें। शूद्रों का कार्य इतर वर्णों की सेवा करना था इसलिए उनकी उत्पत्ति का क्रम पैरों से बताया गया।[१]

अन्य स्थानों में भी कुछ इसी प्रकार के सङ्केत हैं जिनमें इसी प्रकार के भावों को व्यक्त किया गया है। वाल्मीकि रामायण के समकालिक महाकाव्य महाभारत में ब्रह्मा के शरीर से चारों वर्णों की उत्पत्ति का क्रम कहा गया है और वहाँ पर यह भी कहा गया है कि इन वर्णों के लिये जो कर्तव्य निर्धारित हुये हैं वे प्रकृति के द्वारा स्वयं ही किये गये हैं।[२]

व्यास का यह अभिमत रहा है कि प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति को अपने धर्म के अनुसार चलना चाहिए क्योंकि ऐसा करना ही श्रेयष्कर है। वहाँ पर राजा ययाति का एक सन्दर्भ आया है जिसमें यह सङ्केत किया गया है कि यद्यपि सभी वर्णों की उत्पत्ति ईश्वर के शरीर से ही हुयी है तथापि सभी के कर्तव्य भिन्न–भिन्न हैं।[३] वहाँ पर एक विशेषता और देखने को प्राप्त होती है जो यह सङ्केत करती है कि नौ संख्या में ऐसे कर्तव्य हैं जो चारों वर्णों के लिये समान हैं और सभी को अपने लिये निर्धारित कर्म करने चाहिए।[४]

---

१. लो. अ., पृ. ५१

२. म. भा. (आदि) ८१/२०; (भीष्म) ४२/४१–४३

३. वही, (आदि) ८१/२०

४. अक्रोधं सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा ।
प्रजनः स्वेषुदारेषु शोचम द्रोह एव च ।। वही, शान्ति. ६०/७–८

रामायण काल में यह आवश्यक था कि ब्राह्मण जो हो उसका जन्म भी ब्राह्मण कुल में हुआ हो। ब्राह्मण से यह अपेक्षा भी थी कि उसका नित्य प्रति का जीवन ब्राह्मण के कर्मों से संस्कारित हो, उसे वेदाङ्गों का ज्ञान हो, वह सदा पवित्र कर्म में लगा रहने वाला हो, जितेन्द्रिय हो, दानशील और स्वाध्याय करने वाला हो और वह ऐसा ब्राह्मण हो जो नास्तिक न हो, असत्य का भाषण न करता हो, किसी दूसरे का दोष न देखता हो और विद्याहीन न हो। रामायण के बालकाण्ड में जब अयोध्यापुरी के निवासियों का वर्णन किया गया तो यह कहा गया कि वहाँ पर सभी ब्राह्मण अपने लिये निर्धारित कर्म में लगे रहते थे, उनकी इन्द्रियाँ उनके वश में थीं, वे दान देते थे और स्वाध्याय में निरत रहते थे। अयोध्या में निवास करने वाले ब्राह्मण असत्यवादी नहीं थे, अज्ञानी नहीं थे और व्रतहीन भी नहीं थे। इसप्रकार से वहाँ के ब्राह्मण अपने धर्म का आचरण करने वाले और सत्य आदि का आचरण करने वाले थे।[१]

रामायण में ब्राह्मणों के लिये यद्यपि उनके कर्म निर्धारित थे किन्तु कर्म के अनुसार यदि ब्राह्मणों का बंटवारा किया जाता है तो उन्हें पाँच भागों में विभाजित कर देखा जा सकता है।[२] इन पाँच विभाजनों में नगरवासी ब्राह्मण, वनवासी ब्राह्मण, ब्रह्मवादी ब्राह्मण, शस्त्रोपजीवी ब्राह्मण तथा श्रमजीवी ब्राह्मण सम्मिलित हैं। जो ब्राह्मण नगर में रहते थे वे नित्य प्रति स्नान, सन्ध्या

१. स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे ॥
नास्तिको नानृती वापि न कश्चिद् बहुश्रुतः ।
नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते कचित् ॥
नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नासहस्त्रदः ।
न दीनःक्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन॥ वा. रा. (बाल.) ६/१३–१५

२. ध. इ., पृ. २६६

जप, होम आदि करते थे। वे सत्यवादी होते थे और अपने नियमों के पक्के होते थे। जो ब्राह्मण दूसरे स्थान पर अर्थात् अयोध्या नगर में रहते थे अथवा अयोध्या से बाहर वन में रहते थे; वे वन में प्राप्त होने वाले फल–फूलों से अपना निर्वाह करते थे, तपस्या में निरत रहते थे क्योंकि श्रीराम ने अपने वनवास काल में अनेक ऐसे ब्राह्मणों को देखा था जो वनों में रहकर तपस्या में निरत थे और अपने ब्राह्मणत्व से अपने धर्म का निर्वाह करते थे। वे अग्निहोत्र करते थे और अग्नितुल्य तेजस्वी होते थे। महर्षि सरभङ्. का एक ऐसा ही सङ्के.त भी वाल्मीकि रामायण में उपलब्ध है। एक स्थान पर यह कहा गया है कि तपस्या में लगे हुये ब्रह्मवादी मुनि पर यदि कोई जानबूझकर शस्त्र से प्रहार करता है तो उस पुरुष के मस्तक के सात टुकड़े हो जाते हैं।[२] इस कथन में ब्रह्मवादी ब्राह्मण ऋषियों का सङ्के.त है।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण ऐसे थे जो सांख्य–योग का चिन्तन करते थे और ब्रह्मतेज तथा हठयोग की प्रक्रिया से परम तेजस्वी थे। श्रीराम ने जङ्.ल में ऐसे ही अनेक तपस्वियों को देखा था जो ब्रह्म तेज से सम्पन्न थे, सुदृढ़ योग के अभ्यास से जिनके चित्त एकाग्रचित्त हो गये थे।[३]

....

१. तपोऽग्निं स समाधाय हुत्वाचार्जेनमन्त्रवत् ।
सरभङ्.ोमहातेजाः प्रविवेशहुताशनम् ।।
सच पावक सडक.ाशः । वा. रा. (अरण्य.) ५/३९–४१

२. वा. रा. (अयो.) ६४/२४

३. वही (अरण्य) ६/६

महर्षि परशुराम जैसे अनेक ऋषियों का वर्णन तो प्राप्त है ही जिनके विषय में यह ज्ञात है कि वे शस्त्र धारण करते थे। सम्भवत: वे शस्त्रों के द्वारा ही अपनी आजीविका भी प्राप्त करते थे। एक स्थान पर यह सङ्केत है कि सुधन्वा नामक एक आचार्य ने श्रीराम के परिवार के राजकुमारों को अस्त्र–शस्त्र की शिक्षा दी थी।[१] एक प्रकार के उन ब्राह्मणों की चर्चा भी प्राप्त होती है जो कृषि कार्य करते थे और हाथ में कुदाल लेकर वन में घूमकर फल और मूल एकत्र करते थे। वे इस रूप में कृषि से या वनों से प्राप्त होने वाले फलमूलों आदि को खाकर अपना जीवन व्यतीत करते थे, इसके साथ वे गोपालन आदि द्वारा भी अपनी जीविका सञ्चालित करते थे। एक सन्दर्भ में त्रजट नाम के एक ब्राह्मण का सङ्केत आया है जो एक बार श्रीराम के यहाँ गये और उनसे कहा कि मैं अर्थहीन हूँ और आप कुछ सहायता करके मेरी इस अर्थहीनता को दूर करिये। तब श्रीराम ने उपहास करते हुये उन ब्राह्मण से कहा कि तुम अपने हाथ में लिये हुये इस दण्ड को दूर तक फेको, यह दण्ड जितनी दूर तक जायेगा वहाँ तक जितनी भी गायें होंगी मैं सभी तुम्हें उन्हें दान में दे दूँगा। उस ब्राह्मण ने अपने हाथ में लिये हुये दण्ड को फेंका और श्रीराम ने वे सभी गायें दान में उस ब्राह्मण को दे दीं। ब्राह्मण प्रसन्न हुआ और उन्होंने वे गायें प्राप्त कर उनके पालन–पोषण से अपनी जीविका अर्जित की।[२]

---

१. इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्र विशारदम् ।
सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित् त्वं तात मन्यसे ।। वा. रा. (अयो.) १००/१४

२. तमुवाच ततो राम: परिहाससमन्वितम् ।
गवां सहस्त्रमप्येकं न च विश्राणितं मया ।।
परिक्षिपसि दण्डेन यावत्तावदवात्स्यसे ।।
तत: सभार्यस्त्रिजटो महामुनिर्गवामनीकं प्रतिगृह्य मोदित: ।
यशोबल प्रीतिसुखोपबृंहिणीस्तदाशिष: प्रत्यवदन्महात्मन: ।। वा. रा. (अयो.) ३२/३५,३६,४३

जिस प्रकार सूर्य से पूर्व परम्परा में ब्रह्म के मुख से ब्राह्मणों को और बाहुओं अथवा हृदय से क्षत्रियों को उत्पन्न माना गया है उसी प्रकार से वाल्मीकि रामायण में भी क्षत्रियों को कश्यप से उत्पन्न बताते हुये उनकी उत्पत्ति उर से बतायी गयी है। वहाँ पर यह कहा गया है कि मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुये और हृदय से क्षत्रिय उत्पन्न हुये जबकि उरुओं से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुयी।[१]

क्षत्रिय के लिये जिन कर्तव्यों का कथन कहा गया उनमें यह वर्णन है कि क्षत्रिय के लिये प्रथम धर्म यह है कि जैसे ही वह राज्य पर अभिषेक प्राप्त करे वैसे ही उसे अपनी प्रजा के पालन करने का व्रत लेना चाहिए। वहाँ पर यह वर्णन है कि कौन ऐसा क्षत्रिय होगा जो प्रत्यक्ष सुख के साधनभूत प्रजा पालन रूप का परित्याग करके किसी अन्य धर्म का पालन करना चाहे। हर स्थिति में क्षत्रिय के लिये प्रजा पालन ही परम धर्म होता था।[२] क्षत्रिय अपना जीवन स्वाभिमान पूर्वक चलाना जानता था इसलिये उसके लिये यह निर्देश था कि वह कभी किसी के सामने हाथ न फैलाये और न ही कभी दीनभाव वाला होकर किसी से कुछ याचना करे। क्षत्रिय किसी से कभी–भी कुछ ले नहीं; इसलिये क्षत्रिय का काम देना होता था लेना नहीं। भरत से श्रीराम के आगमन की चर्चा करते हुये निषादराज ने कहा था कि मैंने अनेक प्रकार के अन्न, अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ और फल पर्याप्त मात्रा में श्रीराम के पास भेजे। उन्होंने वे सब वस्तुये स्वीकार तो कीं किन्तु क्षात्र धर्म का स्मरण करते हुये उन्हें ग्रहण नहीं किया। उन्होंने क्षत्रिय धर्म का सङ्केत करते हुये कहा कि हे मित्र! हमें किसी से कुछ लेना नहीं चाहिए क्योंकि क्षत्रिय धर्म में किसी

• •

१. मुखतो ब्राह्मण जाता उरसः क्षत्रियास्तथा ।
उरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पद्भ्यां शूद्राइति श्रुतिः ।। वा. रा. (अरण्य.) १४/३०

२. एष हि प्रथमो धर्मः क्षत्रियस्याभिषेचनम् ।
येन शक्यं महाप्राज्ञ प्रजानां परिपालनम् ।। वा. रा. (अयो.) १०६/१९

से कुछ भी लेना उचित नहीं होता। क्षत्रिय का कर्तव्य है कि उसे सदा देना ही चाहिए, उसके लिये किसी से कुछ भी लेना वर्जित होता है।[१] क्षत्रियों के पास न केवल राज्य शक्ति होती थी अपितु वे सैन्य शक्ति और शस्त्र शक्ति के द्वारा भी शक्तिशाली होते थे किन्तु क्षत्रिय के लिये इसके साथ–साथ यह भी निर्देश होता था कि वे कभी भी अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करें इसीलिये श्रीराम ने कहा था कि लक्ष्मण यदि मैं कुपित हो जाऊँ तो अपने वाण के द्वारा समस्त भूमण्डल को निष्कण्टक बनाकर एक क्षत्र शासन कर सकता हूँ किन्तु ऐसा करना राजा के लिये अधर्म आचरण है। राजा हर तरह से प्रजा को सन्तुष्ट करे, प्रजा का पालन करे, यही उसका परम ध ार्म है। इसी धर्म का पालन करते हुये श्रीराम ने अपने अधिकार का परित्याग करके अवध का राज्य भी त्याग दिया था। इसी भाव के वशीभूत होकर श्रीराम ने अवध पर शासन नहीं किया था।[२]

क्षत्रियों की शक्ति इसलिये भी होती थी कि वे अपनी शक्ति का प्रयोग दीनों और दुःखियों की रक्षा के लिये करें। क्षत्रियों के लिये यह आवश्यक था कि उनका शस्त्र कभी–भी निरपराधी के लिये न उठे। यदि कहीं पर कोई भी पीड़ित है तो क्षत्रिय का यह कर्तव्य है कि वह शस्त्र धारण करे और जो भी पीड़ित है उसकी रक्षा करे। श्रीराम के समक्ष जब अरण्य में रहने वाले अरण्यवासी आये और उन्होंने यह चाहा कि श्रीराम कठोर स्वभाव वाले राक्षसों से

---

१. तत् सर्वे प्रत्यनुज्ञासीद् रामः सत्यपराक्रमः ।
न हि तत् प्रत्यगृह्णात् स क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ।।
न ह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा ।
इति तेन वयं सर्वे अनुनीता महात्मना ।। वा. रा. (अयो.) ८७/१६–१७

२. एको ह्यमोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।
तरेयमिषुभिः क्रुद्धो ननु वीर्यमकारणम् ।।
अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानघ ।
तेन लक्ष्मण नाद्याहमात्मानमभिषेचये ।। वा. रा. (अयो.) ५३/२५–२६

उनकी रक्षा करें तो उन्होंने सीता को क्षत्रिय धर्म का कथन करते हुये बताया कि क्षत्रिय लोग धनुष धारण करते हैं जिससे किसी को दुःख न हो और किसी को भी हाहाकार न करना पड़े। सीता को सम्बोधित करते हुये श्रीराम ने कहा था कि दण्डकारण्य में रहने वाले मुनि बहुत दुःखी हैं और वे मेरे समक्ष शरणागत वत्सल हुये हैं इसलिये मुझे उनकी रक्षा करनी चाहिए।[१]

क्षत्रियों के लिये यह भी निर्देश किया गया है कि वे विद्वान् हों, शूरवीर हों और सदा सर्वदा लोकहितकारी कार्यों में संलग्न रहें। सभी सत्य का पालन करें और वेदादि का अभ्यास भी करते रहें। क्षत्रियों के लिये यह निर्देश विशेष रूप से किया गया था कि वे गौओं का, ब्राह्मणों का और सम्पूर्ण देश का हित करने के लिये सदा ही तत्पर रहें। इसीलिये श्रीराम ने महर्षि विश्वामित्र के साथ जाते हुये यह कहा था कि महाराज! मेरे पिता ने यह आज्ञा दी है कि मैं आप सदृश ऋषि की आज्ञा का पालन करुँ। इसलिये अपने पिता की आज्ञा मानकर मैं आपकी आज्ञा का पालन करुँगा। आज्ञा पालन करने के इस क्रम में मैं गो, ब्राह्मण का हित करने के साथ–साथ आप जैसे अनुपम महात्मा के आदेश का पालन करुँगा। आप आज्ञा प्रदान करें मैं उसका पालन करने के लिये तत्पर हूँ।[२]

१. किं नु वक्ष्याम्यहं देवि त्वयैवोक्तमिदं वचः ।
क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति ।।
ते चार्ता दण्डकारण्ये मुनयः संशितव्रताः ।
मां सीते स्वयमागम्य शरण्यं शरणं गताः ।। वा. रा. (अरण्य.) १०/३–४

२. सोऽहं पितुर्वचः श्रुत्वा शासनाद ब्रह्मवादिनः ।
करिष्यामि न संदेहस्ताटकावधमुक्तमम् ।।
गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय च ।
तव चैवाप्रमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः ।। वा. रा. (बाल.) २६/५–६

वन यात्रा करते समय जहाँ एक ओर अपने धर्म का पालन करते हुये माँ कौशल्या और सुमित्रा ने अपने दोनों बेटों को पिता की आज्ञा पालन करने के लिये प्रेरित किया था वहीं वन में जाकर भी श्रीराम ने क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुये भी सभी की रक्षा के व्रत का परित्याग नहीं किया था। सुमित्रा ने लक्ष्मण को सम्बोधित कर यह कहा था कि हे लक्ष्मण! तुम सदा अपने बड़े भाई की आज्ञा का पालन करना क्योंकि हमारे कुल परम्परा में दान देना, यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करना और युद्ध में शरीर त्यागना यही उचित है।[१] इस सङ्केत से भी यह ज्ञात होता है कि क्षत्रिय के लिये यह करणीय था कि वह दान दें, यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करे और युद्ध में अपना शरीर त्याग करने में किसी तरह का सङ्कोच न करे।

क्षत्रियों के लिये उनके कर्तव्यों के पालन पर इतना अधिक जोर दिया गया था कि यदि वे अपने कर्तव्य से विमुख होते थे तो उन्हें बहुत ही निन्दनीय माना जाता था। इसलिये यह माना गया था कि वे अपने कुल धर्म का पालन करें और कभी–भी ऐसा कोई कर्म न करें जो कर्म क्षत्रिय धर्म के विपरीत हो।

एक स्थान पर राजा दशरथ द्वारा मुनि कुमार का वध किये जाने से जो सङ्कट उत्पन्न होने वाला था उसका विवरण देते हुये महाराज दशरथ ने कौशल्या को यह सङ्केत किया था कि उस समय अपने द्वारा किये गये अपकर्म को यदि मैं स्वयं

१. व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानध ।
एष लोके सतां धर्मो यज्जयेष्ठवशगो भवेत् ।।
इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम् ।
दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु हि।। वा. रा. (अयो.) ४०/६–७

अपने मुख से न कहता तो मेरे शरीर के टुकड़े–टुकड़े हो जाते। राजा ने कहा कि उस ब्राह्मण कुमार के पिता ने मुझसे कहा था कि राजन्! क्षत्रिय यदि जानबूझकर किसी का वध कर दे और ऐसा करने वाला चाहे इन्द्र ही क्यों न हो वह अपने स्थान से भ्रष्ट होता है। तपस्या में लगे हुये किसी ब्रह्मवादी पर शस्त्र प्रहार करने वाला व्यक्ति नष्ट हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति जानबूझकर ऐसा करता है तो वह अपने पूरे कुल को नष्ट करने का हेतु बनता है।[१]

क्षत्रियों के लिये क्षत्रियोचित कर्म करना न केवल उसके कर्तव्य में समाहित था अपितु कहा तो यह गया है कि जो राजा है उसके लिये इन्द्रिय –निग्रह करना, मन का संयम रखना, क्षमा करना, धर्म धारण करना, धैर्य रखना, सत्यवादी और पराक्रमी होना तथा अपराधियों को दण्ड देना उसके कर्तव्य हैं। जो कोई इस प्रकार के कर्तव्य नहीं करता वह अपने धर्म से च्युत होता है इसलिये यह कहा गया है कि क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होकर, शास्त्र का ज्ञाता होकर, संशय रहित होकर कौन ऐसा व्यक्ति है जो अपने कर्म का पालन नहीं करेगा। साम, दान, क्षमा, धर्म, धृति, पराक्रम और अपराधियों को दण्ड देना ये राजाओं के गुण हैं इनका परित्याग राजा को कभी–भी नहीं करना चाहिए।[२]

१. क्षत्रियेण वधो राजन् वानप्रस्थे विशेषतः ।
ज्ञानपूर्वे कृतः स्थानाच्च्यावयेदपि वज्रिणम् ।।
सप्तधा तु भवेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति ।
ज्ञानाद् विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि ।।
अज्ञानाद्धि कृतं यस्मादिदं ते तेन जीवसे ।
अपि ह्यकुशलं न स्याद् राघवाणां कुतो भवान् ।। वा. रा. ६४/२३–२५

२. नयश्च विनयश्चौभौ निग्रहानुहावपि ।
राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः।। वा.रा. (कि.) १७/३२

वाल्मीकि रामायण में तृतीय वर्ण वैश्य के सन्दर्भ में बहुत कम विवरण प्राप्त होता है। एक स्थान पर यह कहा गया है कि जो कृषि कर्म और व्यापार आदि का सम्पादन करता है वह वैश्य कर्म करने वाला माना जाता है। एक स्थान पर यह सङ्केत है कि महाराज दशरथ के द्वारा एक वैश्य पुत्र का वध किया गया था और वह ऐसे वंश का वैश्य पुत्र था जो सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र आदि कार्य करता था। इसी प्रकार से एक सङ्केत ऐसा है जिसमें यह सङ्केत है कि कृषि और गोरक्षा से जीविका चलाने वाले कुछ लोग ऐसे थे जो भरत के राज्य में आनन्दपूर्वक रहते थे। श्री भरत का राज्य ऐसा था जिसमें कृषि और व्यापार में संलग्न रहने पर वे सुखी और उन्नत थे।[१] अन्य और सन्दर्भ भी ऐसे हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि समाज में जो भी आर्थिक गतिविधियाँ थीं वे प्रायः उन्हीं लोगों के हाथ में थीं जिन्हें वैश्य कहा जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय यदि बौद्धिक रूप से अथवा शारीरिक शक्ति के रूप से समाज को सम्बल प्रदान करते थे तो वैश्यों के द्वारा समाज को आर्थिक सम्बल मिलता था। इसलिये वैश्य से यह अपेक्षा की जाती थी। जहाँ एक ओर वह वैश्य सम्बन्धों से समन्वित हो वहीं दूसरी ओर अपने कार्यों से और कृषि आदि से राज्य के आर्थिक विकास में योगदान करे।[२]

उपरिलिखित त्रिवर्ण के अतिरिक्त जो शेष वर्ष के लोग रह गये थे वे शूद्र वर्ण में गिने जाते थे। वाल्मीकि रामायण में शूद्रों के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि वे जो तीन वर्ण हैं उनकी सेवा करें और उनके द्वारा त्रिवर्णों की सेवा करना ही उनका धर्म है।[३]

१. कच्चित् ते दैत्ताः सर्वे कृषिगोरक्षित जीवनः ।
वार्तायां संस्तृस्तात् लोकोऽयं सुखमेधते ।। वा. रा. (अयो.) १००/४७

२. वा. रा. (अयो.) १००/४७–४८

३. स्वधर्म परमश्तेषां वैश्य शूद्रतदागमत् ।
पूजां च सर्व वर्णानां शूद्रश्चक्रु विशेषतः ।। वा. रा. (उत्तर) ७४/२१

कुछ विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपना यह मत व्यक्त किया है कि तीन उच्च वर्णों के अतिरिक्त जो शेष रह गये थे सम्भवतः उन्हें ही शूद्रों के रूप में कहा गया। इसीलिये अनार्य दास और वर्णच्युत लोग भी शूद्रों के नाम से ही कहे गये।[१]

जहाँ तक वाल्मीकि रामायण की वर्ण—व्यवस्था का प्रश्न है वहाँ यह कहना सङ्गत होगा कि उस समय की व्यवस्था के अनुसार कोई भी निम्न वर्ण का व्यक्ति उच्च वर्ण का कार्य सम्पादित नहीं कर सकता था। इस सम्बन्ध में महर्षि विश्वामित्र का एक आख्यान उदाहरण के रूप में दिया जा सकता है जिसमें यह कहा गया है कि महर्षि विश्वामित्र त्रिशङ्कु के यज्ञ में पुरोहित बनना चाहते थे किन्तु ऐसा करने को उनको तब तक अनुमति प्राप्त नहीं हुयी जब तक उन्होंने ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त नहीं कर लिया। जब वे ब्रह्मर्षि पद पर प्रतिष्ठित हुये तभी वे त्रिशङ्कु के यज्ञ के पुरोहित बने। यद्यपि वह यज्ञ भी सफल नहीं हुआ। वाल्मीकि रामायण के समय इस वर्ण—व्यवस्था के माध्यम से यह अवश्य ज्ञात किया जा सकता है कि उस समय इसी वर्ण—व्यवस्था ने व्यक्ति को अपने कर्तव्यों की ओर अभिमुख किया था क्योंकि वर्ण व्यवस्था का जो एक विशेष दृष्टिकोण था उसके अनुसार सभी वर्णों के लिये यह आवश्यक था कि वे अपने—अपने लिये निर्धारित कर्तव्यों का पालन करें। कभी—कभी तो ऐसा भी होता था कि कोई अपने लिये निर्धारित कर्तव्यों का पालन नहीं करता था तो वह अपने वर्ण से च्युत हो जाता था और समाज में उपेक्षा का शिकार होता था।

....

१. चे. का. इ., पृ. १७

२. वा. रा. (बाल.) ५९/१३—१४

आश्रम व्यवस्था

प्राचीन भारत में जिस सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की गयी थी उसके आधार पर यह विचार किया गया था कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक निश्चित व्यवस्था में बंधकर अपने कर्तव्य का पालन करे। इसी दृष्टि से जहाँ एक ओर वर्ण व्यवस्था निर्धारित थी वहीं दूसरी ओर आश्रम व्यवस्था का प्रवर्तन भी किया गया था। इस व्यवस्था के माध्यम से यह कामना की गई थी कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने जीवन समय में अपने लिये निर्धारित कर्तव्यों का पालन करेगा। वाल्मीकि रामायण में जो आश्रम व्यवस्था दी गई है उस आश्रम व्यवस्था में जीवन को उन चार दिशाओं में बढ़ाना होता था जिसमें व्यक्ति अपने अधिकारों, कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का अनुभव करता था और उसे सांसारिक कर्तव्यों के साथ–साथ यह भी याद रहता था कि उसका आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, उसे जीवन को किस दिशा में चलाना है और उसके जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है।[१]

जैसा महर्षि मनु ने निर्धारित किया है वाल्मीकि रामायणकार ने भी उसी प्रकार से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्थ के रूप में चार आश्रमों का निर्देश किया है इसलिये एक स्थान पर वे यह सङ्केत करते हैं कि इन चार आश्रमों के द्वारा व्यक्ति अपने जीवन में आने वाले अधिकारी भेद, द्वेषभेद और काल भेद के अनुसार कर्तव्यों का अनुभव कर पाता था।[२]

१. ध. इ., पृ. २६६

२. क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च ।
व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ।। वा. रा. (अरण्य.) ९/२७

महर्षि वाल्मीकि ने यद्यपि क्रम के अनुरूप किन्हीं आश्रमों का और उनके कर्तव्यों का वर्णन नहीं किया है इसलिये यह निश्चित रूप से निर्धारित कर पाना तो सम्भव नहीं है कि उस समय ब्रह्मचारी के कर्तव्य क्या थे किन्तु महर्षि मनु ने जैसा सङ्केत किया है उसी के अनुरूप ब्रह्मचारी को सामान्य रूप से अपना घर छोड़कर वन में गुरु आश्रम में रहकर अध्ययन करना पड़ता था।[१] इसके साथ ही जब वह गुरु आश्रम में रहता था तो वह आश्रम के लिये निर्धारित नियमों का परिपालन भलीप्रकार करता था, अनुशासन में रहता था और जितना अधिक हो सकता था अपने आचार्य की सेवा करता था।[२]

एक स्थान पर ब्रह्मचारी के विषय में यह वर्णन प्राप्त है जिसमें यह कहा गया है कि लोक में ब्रह्मचर्य के दो रूप विख्यांत हैं। ब्राह्मणों ने सदा ही उन दोनों स्वरूपों का वर्णन किया है। इनमें से एक ब्रह्मचर्य का रूप दण्ड, मेखला आदि धारण कर समय व्यतीत करना मुख्य ब्रह्मचर्य है और दूसरा ब्रह्मचर्य का रूप वह है जिसे ऋतु काल में पत्नि के संसर्ग रूप को ब्रह्मचर्य कहा गया है। सदा ही इन्हीं ब्रह्मचर्य स्वरूपों का कथन ऋषिगण करते आये है।[३]

एक अन्य स्थान पर भी ब्रह्मचर्य आश्रम का सङ्केत करते हुये ऋषि ने आश्रम में रहते हुये शिष्य के द्वारा आचार्य की सेवा का वर्णन किया हैं। महर्षि वाल्मीकि और भरद्वाज के सम्वाद में तमसा के तट पर अपने शिष्य भरद्वाज को निर्देश देते हुये महर्षि ने कहा था कि भरद्वाज! देखो यहाँ का घाट बड़ा सुन्दर है, यहाँ के घाट में कीचड़ नहीं है

१. म. स्मृ. ४/१

२. वा. रा. (बाल.) २/६–७

३. द्वैविध्यं ब्रह्मचर्यस्य भविष्यति महात्मनः ।
लोकेषु प्रथितं राजन् विप्रैश्च कथितं सदा ।। वा. रा. (बाल.) ९/५–९

और जल ऐसा स्वच्छ है जैसे कि किसी सत् पुरुष का मन स्वच्छ होता है। यह कहकर महर्षि ने स्नान की इच्छा व्यक्त की थी और अपने शिष्य से कहा था कि मुझे मेरा वल्कल वस्त्र प्रदान करो। मैं इसी नदी में स्नान करुँगा तब भरद्वाज शिष्य ने गुरु आज्ञा का पालन करते हुये महर्षि वाल्मीकि को उनके वस्त्र दिये जिससे गुरु आश्रम में गुरु की सेवा का सङ्केत हुआ।[१]

इस महाकाव्य ग्रन्थ के एक काण्ड में ऐसा सङ्केत भी है जहाँ पर एक स्त्री वल्कल वस्त्र धारण कर और मृगचर्म पहनकर तपस्या करती हुयी दिखायी देती है। किष्किन्धा काण्ड में यह प्रसङ्ग आया है कि श्री हनुमान् जी के साथ सीता की खोज में अनेक वानर समुद्र तट में पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने एक गुफा देखी जिस गुफा में एक स्त्री तपस्विनी को देखा। वह स्त्री महातेजस्विनी थी, वल्कल वस्त्र पहने हुये थी, मृगचर्म धारण किये हुये थी, नियमित आहार करती हुयी तपस्या में संलग्न थी।[२] इस रूप में यह सङ्केत ग्रहण करना सम्भव हो सकता है कि उस समय पुरुषों के साथ–साथ स्त्रियाँ भी तपस्या में संलग्न हो सकती थीं और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती हुई अपना जीवन व्यतीत कर सकतीं थीं।

---

१. स तु तीरं समासाद्य तमसाया मुनिस्तदा ।
शिष्यमाह स्थितं पार्श्वे दृष्ट्वा तीर्थमकर्दमम् ।।
अकर्दममिदं तीर्थं भरद्वाज निशामय ।
रमणीयं प्रसन्नाम्बु सन्मनुष्यमनो यथा ।।
न्यस्यतां कलशस्तात दीयतां वल्कलं मम ।
इदमेवावगाहिष्ये तमसातीर्थमुत्तमम् ।। वा. रा. (बाल.) २/३–७

२. वा. रा. (किष्किन्धा) ५०/३९–४०

इस रूप में जिस ब्रह्मचर्य आश्रम की परिकल्पना थी उसके मूल में यह उद्देश्य निहित था कि व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन सादा हो, अनुशासनपूर्ण हो, वह अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर सके, उसका नैतिक विकास हो और उसमें जो गुरु सेवा की भावना जागे, उस भावना के वशीभूत होकर वह अपने जीवन में अपने से बड़े गुरुजनों का आदर करने का स्वभाव बना सके।

ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन का प्रथम आश्रम था। जब किसी भी ब्रह्मचारी का यह आश्रम पूर्ण हो जाता था और वह गुरु आश्रम में रहकर अपनी शिक्षा पूरी कर लेता था तब वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम में रहता हुआ व्यक्ति अपनी स्त्री के साथ देवताओं, ऋषियों और अपने पितरों के प्रति कर्तव्यों का पालन करता था। महर्षि मनु ने व्यक्ति के जन्म होते ही उस पर तीन ऋणों का कथन किया है। ये ऋण हैं देवता, ऋषि और पितर।[१]

महर्षि वाल्मीकि ने इन ऋणों को स्वीकार करते हुये भी दो ऋणों को और जोड़ दिया है। उनमें वे पाँच ऋण मानते हैं। इन पाँचों में महाराज दशरथ ने श्रीराम को सम्बोधित करते हुये कहा कि मैंने देवताओं, ऋषियों, पितरों और ब्राह्मणों का ऋण उतार दिया है और अब मैं स्वयं भी उऋण होना चाहता हूँ। मेरे सामने तुम्हें युवराज पद पर अभिषिक्त करने के अतिरिक्त और कोई कार्यशेष नहीं है।[२]

१. म. स्मृ. ५/१६९

२. अनुभूतानि चेष्टानि मया वीर सुखान्यपि ।
देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथाऽऽत्मनः ।। वा. रा. (अयो.) ४/१४

आश्रम व्यवस्था में जिन चार आश्रमों का वर्णन है उनमें गृहस्थ आश्रम की महत्ता सबसे अधिक है क्योंकि यही वह आश्रम है जिसमें अपने कर्तव्यों का परिपालन करने के साथ–साथ समाज का परिपालन भी होता है। इसलिये श्री भरत श्रीराम से कहते हैं कि रघुनन्दन! यदि आप धर्मज्ञ हैं और क्लेश सहन करके अपने कर्तव्य का पालन करना चाहते हैं तो आप यह जानें कि धर्म के ज्ञाता पुरुष चार आश्रमों में से गृहस्थ आश्रम को ही सर्वश्रेष्ठ आश्रम मानते हैं इसलिये वनवास जाते समय वे श्रीराम से प्रश्न करते हैं कि जब आप धर्मज्ञ हैं तो भला गृहस्थ आश्रम का परित्याग क्यों करना चाहते हैं?[१]

गृहस्थ आश्रम के विषय में यह कहा गया है कि यह आश्रम इसलिये श्रेष्ठ है क्योंकि इस आश्रम में रहकर व्यक्ति धर्म का आचरण तो करता ही है इसी आश्रम में ही व्यक्ति को अर्थ और काम की प्राप्ति भी होती है। इसीलिये श्रीराम गृहस्थ आश्रम के धर्मरूप पिता की आज्ञा का पालन कर वन में जाना चाहते हैं। श्रीराम सीता से कहते हैं कि पिता की सेवा करना ऐसा कल्याणकारी है जैसा न सत्य है, न दान है, न मान है और न यज्ञ है। गृहस्थ आश्रम में रहकर पिता की आज्ञा का पालन परम धर्म है।[२]

१. चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम् ।
आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमिच्छसि ।। वा. रा. (अयो.) १०६/२२

२. वा. रा. (अयो.) ३०/३५

गृहस्थ धर्म की मान्यता का एक यह भी कारण है कि इस आश्रम के द्वारा ही अन्य आश्रमवासियों का भरण–पोषण भी होता था। महर्षि मनु ने भी यही सङ्केत किया है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने वाले, वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाले और संन्यासी अपनी जीविका के लिये गृहस्थ आश्रम पर ही निर्भर रहते हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के रचनाकार कालिदास ने भी अपने इस प्रख्यात नाटक में ऐसा ही सङ्केत किया है।[१] गृहस्थ के लिये किन कर्तव्यों का विधान था और उन विधानों से क्या प्राप्त होता था इसका भी सङ्केत वाल्मीकि रामायण में है। श्रीभरत और राम के सम्वाद में श्रीभरत ने गृहस्थ आश्रम में सम्पादित किये जाने वाले कर्तव्यों का सङ्केत करते हुये श्रीराम से यह कहा है कि इस आश्रम में रहकर आप देवताओं, ऋषियों और पितरों का ऋण चुकायें।[२] जिसका सङ्केत यह हुआ कि गृहस्थ देवपूजन, श्राद्ध और अतिथि सत्कार के द्वारा अपने ऋणों से उऋण होता था।

गृहस्थ आश्रम के लिये अन्य जो कर्तव्य वाल्मीकि रामायण में निर्दिष्ट हैं उनमें देव उपासना और विधिवत् अपनी पत्नि के साथ नारायण पूजा भी निर्धारित है। जब भगवान् श्रीराम अभिषेक प्राप्त करने के लिये संयमित हो रहे थे तब उन्होंने सीता के साथ गृहस्थ आश्रम में रहकर श्रीनारायण की पूजा की थी। इसी प्रकार से उन्होंने विदेह नन्दिनी के साथ भगवान् विष्णु के सुन्दर मन्दिर में विष्णु की उपासना करके वहीं पर विश्राम किया था। इससे यह सङ्केत होता है कि गृहस्थ आश्रम के कर्तव्यों में श्रीनारायण पूजा का महत्त्व वाल्मीकि रामायण में निर्देशित है।

१. म. स्मृ. ६/८७; अ. शा.

२. ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन् दुर्हृदः साधु निर्दहन् ।
सुहृदस्तर्पयन् कामैस्त्मेवात्रानुशाधि माम् ।। वा. रा. (अयो.) १०६/२८

इस रूप में गृहस्थ धर्म को महर्षि वाल्मीकि ने एक श्रेष्ठ आश्रम के रूप में प्रतिपादित किया है। वे उस परम्परा के पोषक हैं जिसमें उनसे पहले धर्मशास्त्र की व्यवस्था में मनुष्य के ऊपर तीन ऋणों का होना बताया जाता था और यह कहा जाता था कि गृहस्थ आश्रम में निवास करता हुआ व्यक्ति देव पूजा, श्राद्ध और अतिथि सेवा के माध्यम से जहाँ एक ओर वह अपने जीवन के ऋणों से मुक्त होता था वहीं दूसरी ओर समाज के सभी जीवों के प्रति सौमस्य का भाव रखता था। क्योंकि गृहस्थ आश्रम में ही रहकर व्यक्ति धनोपार्जन कर सकता था और इसलिये उसे भी यह अधिकार था कि वह अपने द्वारा किये गये धनार्जन से अपनी कामनाओं की पूर्ति करे किन्तु ऐसा करना महर्षि वाल्मीकि ने इसलिये उचित नहीं माना क्योंकि इससे समाज के अन्य लोग अभावग्रस्त रह जाते तथा गृहस्थ व्यक्ति अपनी ही कामनाओं में लीन होकर एकाङ्गी जीवन व्यतीत कर रहा होता। श्रीराम के आदर्श से यह सङ्केत है कि गृहस्थ धर्म का पालन करते हुये माता–पिता की आज्ञा महत्त्वपूर्ण होती है इसीलिये जब श्रीभरत जी ने श्रीराम से यह निवेदन किया कि आप वन न जाकर अयोध्या में रहें और गृहस्थ धर्म का पालन करें तो उन्होंने कहा था कि गृहस्थ धर्म में रहते हुये पिता की आज्ञा का पालन करना ही परम धर्म है इसलिये मैं उसी का पालन करुँगा। इससे भी यह सङ्केत है कि गृहस्थ धर्म में रहते हुये जहाँ अर्थोपार्जन करना चाहिए वहीं पर परिवार जनों की सहायता करते हुये समाज के प्रति भी उदारता का भाव रखना चाहिए।

परम्परा के अनुसार जब व्यक्ति की आयु बढ़ने लगती है, उसका बल क्षीण होने लगता है और उसकी इन्द्रियाँ शिथिल होने लगती हैं तब यह आवश्यक होता है कि वह शान्ति प्राप्त करे और इस जीवन के पश्चात् जो उसे प्राप्त होने वाला है उस विषय में चिन्ता करे। वह एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें व्यक्ति अपने गृहस्थ धर्मों का दायित्व पूरा कर चुका होता है और लौकिक कामनाओं से ऊपर उठकर अपने जीवन की आध्यात्मिक साधना में लग जाना चाहता है। ऐसी अवस्था में जब जीवन के तीसरे भाग को व्यक्ति प्राप्त हो जाये तो उसे वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने का निर्देश है। किसी एक विद्वान् ने ऐसा ही अभिमत व्यक्त करते हुये यह लिखा है कि उस अवस्था में व्यक्ति को सांसारिक जीवन को छोड़कर शान्तिपूर्ण वातावरण में रहकर अपना आध्यात्मिक विकास करना चाहिए।[१]

वाल्मीकि रामायण में अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समय में वानप्रस्थ आश्रम में पहुँचकर तप करने की आकांक्षा तब थी। महाराज दशरथ ने जब श्रीराम को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा था तब उन्होंने यही कहा था कि साठ हजार वर्ष तक राज्य कार्य का सम्पादन करते हुये मैं श्रमित हो चुका हूँ इसलिये अब मैं विश्राम करना चाहता हूँ क्योंकि यह मेरा शरीर भी जीर्ण हो चुका है। ऐसे इस शरीर से किसी भी प्रकार का गुरुतर भार उठाना सम्भव नहीं दिखायी देता है।[२]

---

१. ध. इ., पृ. २७७

२. प्राप्त वर्षसहस्राणि बहून्यायूंसि जीवतः ।
जीर्णस्यास्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोचये ।। वा. रा. (अयो.) २/८

अपने समक्ष उपस्थित ऋषियों और द्विजों को सम्बोधित करते हुये महाराज दशरथ ने कहा था कि जगत् का धर्मपूर्वक संरक्षण करना उसी शरीर से अजितेन्द्रिय शरीर से राज कार्य कर पाना कठिन है और मेरे द्वारा बहुत दिनों तक राज्यकार्य हुआ है। अब मैं थक गया हूँ इसलिये स्वयं को विश्राम देना चाहता हूँ। महाराज दशरथ ने तब कहा था कि मैं अब सम्पूर्ण द्विजों की अनुमति लेकर और प्रजाजनों के हित का चिन्तन करते हुये अपने पुत्र श्रीराम को राज्य कार्य में नियुक्त करता हूँ।[१] इस रूप में यहाँ पर महाराज दशरथ का कहा गया वचन उनके उस भाव को सङ्केतित करता है जिसके वशीभूत होकर वे गृहस्थ धर्म का परित्याग करके तप के लिये वानप्रस्थ होना चाहते हैं।

इसी प्रकार का एक सन्दर्भ और प्राप्त है जिस सन्दर्भ में महाराज अंशुमान का कथानक प्राप्त होता है। अंशुमान रघुवंश में एक बड़े ही प्रतापी राजा थे। वे धैर्यवान् और तपस्वी थे। उनके पुत्र का नाम दिलीप था और दिलीप भी उसी प्रकार के तेजस्वी और धर्मवान् राजा थे। वाल्मीकि रामायण में यह वर्णन आया है कि जब अंशुमान का गृहस्थ धर्म पूरा हुआ तो उन्होंने यह निश्चय किया कि अब वे अपने पुत्र दिलीप को अपना उत्तराधिकारी बना देवें। ऐसा सोचकर

१. राजप्रभावजुष्टां च दुर्वहामजितेन्द्रियैः ।
परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वी धर्मधुरं वहन् ।।
सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते ।
संनिकृष्टानिमान् सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान् ।। वा. रा. (अयो.) २/९–१०

उन्होंने अपने पुत्र दिलीप को राज्य का उत्तराधिकार दे दिया और स्वयं पर्वतों की उपत्तिकाओं में जाकर तपस्या करने लगे। वहाँ रहकर महाराज अंशुमान ने बत्तीस हजार वर्ष तक तपस्या की। तपस्या के पश्चात् महाराज अंशुमान ने वहीं पर अपने शरीर का त्याग भी किया।[१]

जब भगवान् श्रीराम अपनी वन यात्रा के समय दण्डकारण्य में पहुँचे थे तो वहाँ पर उनका आदर सत्कार अनेक तपस्वियों ने किया था। जब श्रीराम ने उन तपस्वियों को देखा था तो वे यह देख सके थे कि वहाँ पर जो आश्रम बने थे उन आश्रमों में कहीं—कहीं पर कुश के आस्त्रण थे और कहीं पर वल्कल वस्त्र बिछे थे। इन तपस्या योग वस्तुओं से युक्त वे आश्रम अपने ब्रह्म तेज से वहाँ के वातावरण को मण्डित कर रहे थे। बाद में भगवान् श्रीराम घूमकर सुतीक्षण के आश्रम में आये थे।[२]

कुछ समय के पश्चात् श्रीराम लक्ष्मण सहित अगस्त्य मुनि के आश्रम में गये थे। वह आश्रम भी तपस्वियों के अनुकूल वस्तुओं से मण्डित दिखायी देता था। वहाँ पर कहीं लकड़ियों का ढेर दिखायी देता था तो कहीं पर वैदूर्य मणि के सदृश रङ्ग वाले कटे हुये कुश दिखायी दे रहे थे। वन के बीच में आश्रम की अग्नि का धुआं उठता हुआ दिखायी दे रहा था जो ऐसा लगता था मानो गगन मण्डल में मेघ छा गये हों। वहाँ पर अनेक क्षेत्रों से ब्राह्मण एकत्रित

१. तस्मै राज्यं समादिश्य दिलीपे रघुनन्दन ।
हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे सुदारुणम् ।।
द्वात्रिंशच्छतसाहस्त्रं वर्षाणि सुमहायशाः ।
तपोवनगतो राजा स्वर्गं लेभे तपोधनः ।। वा. रा. (बाल.) ४२/३–४

२. वा. रा. (अरण्य.) ११/२१

होते थे जो पवित्र तीर्थ स्थानों में स्नान करके आये हुये थे और स्वयं पुष्प चुनकर लाते थे और देवताओं को पुष्पहार प्रदान करते थे।[१]

वन में रहकर जो ऋषि तपस्या करते थे वे अपने व्यक्तिगत जीवन के लिये तो तपस्या करते ही थे अपितु उनकी तपस्या से समाज का हित भी होता था। इस सन्दर्भ में वानप्रस्थ आश्रम में निवास करने वाले ऋषियों ने महाराज राम से कहा था कि महाराज! जिस राजा के राज्य में ऋषि—मुनि फलमूल का आहार करके जिस उत्तम धर्म का अनुष्ठान करता है और तप करता है, उस तप का चतुर्थांश प्रजा की रक्षा के लिये उस राजा को प्राप्त होता है।[२] इसी प्रकार से इसी सातत्य में वानप्रस्थ आश्रम में निवास करने वालों में ब्राह्मणों की संख्या का अधिक कथन किया गया है। राक्षसों के द्वारा प्रताड़ित किये गये वानप्रस्थवासी जब अपना दुःख व्यक्त करने के लिये श्रीराम के पास आये थे तो उन्होंने कहा था कि वानप्रस्थ आश्रम में निवास करने वालों का यह जो महान् समुदाय है इसमें ब्राह्मणों की संख्या अधिक है और इनके रक्षक आप ही हैं।[३]

इस रूप में राजा वानप्रस्थ आश्रमवासियों की रक्षा करता था और वे सभी राजा के लिये तपस्या करते थे।

---

१. तत्र तत्र च दृश्यन्ते संक्षिप्ताः काष्ठसंचयाः ।
लूनाश्च परिदृश्यन्ते दर्भा वैदूर्यवर्चसः ।।
एतश्च वनमध्यस्थं कृष्णाभ्राशिखरोपमम् ।
पावकस्याश्रमस्थस्य धूमाग्रं सम्प्रदृश्यते ।।
विविक्तेषु च तीर्थेषु कृतस्नाना द्विजातयः ।
पुष्पोहारं कुर्वन्ति कुसुमैः स्वयमर्जितैः ।। वा. रा. (अरण्य) ११/५०—५२

२. यत् करोति परमधर्म मुनि मूलफलासनाः ।
तत्र राक्षसश्चचतुर्भागः प्रजाधर्मेण रक्षतः ।। वा. रा. (अरण्य.) ६/१४

३. वही, ६/१५

आश्रम व्यवस्था में मनुष्य के जीवन की चतुर्थ स्थिति को भी प्रस्तुत किया गया है। यह व्यक्ति के जीवन की वह अवस्था है जिसमें वह न केवल शारीरिक रूप से अक्षम हो चुका होता है अपितु उसकी समग्र इन्द्रियाँ इस रूप में असमर्थ हो चुकी होती हैं कि वे अब कोई भी कार्य करने में समर्थ नहीं रह जातीं। साथ ही इस अवस्था में पहुँचकर व्यक्ति को यह अनुभव भी होने लगता है कि व्यक्ति के जीवन की सीमा यहीं तक निर्धारित नहीं है अपितु इस शरीर से मुक्त होने के पश्चात् दूसरा जीवन भी प्राप्त करना होता है। जीवन का यह क्रम जो निरन्तर बना रहता है वह कष्टकारी होता है और भारतीय ऋषियों ने यह चाहा है कि वे इस जन्म–मरण के क्रम से मुक्त हो इसलिये वे चतुर्थ आश्रम में पहुँचकर जहाँ इस संसार के राग–द्वेष से मुक्त होते हैं वहीं वे दूसरी ओर उस सत्ता के साक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील होते हैं जिसका साक्षात्कार करने पर कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता। इसलिये व्यक्ति संन्यास आश्रम में पहुँचकर अपनी जीवन की अन्तिम अवस्था के समय में अपना आध्यात्मिक विकास करता हुआ यह जीवन व्यतीत करता है। वाल्मीकि रामायण में यह सन्दर्भ आया है कि एक राजा गृहस्थ आश्रम छोड़कर तपोवन में गया और वहाँ पर उसने तपस्या करने के पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति की।

यद्यपि संन्यास आश्रम के विधि–विधानों का और वहाँ पर किये जाने वाले कार्यों का कोई विशेष विधि पूर्वक वर्णन वाल्मीकि रामायण में प्राप्त तो नहीं है किन्तु इस महाकाव्य में वैखानस नाम से कुछ ऐसे संन्यासियों की चर्चा है जो ब्रह्मा के नख से उत्पन्न हुये थे और जिनकी गणना करते हुये महर्षि ने सङ्केत करते हुये उनके द्वारा

सम्पादित किये जाने वाले कार्यों का उल्लेख भी किया है महर्षि वाल्मीकि ने वैखानस, वालखिल्य, सम्प्रक्षाल, मरीचिप, बहुसंख्यकअश्मकुट्ट, पत्राहार, दन्तोलूखिली, उन्मज्जक, गात्रशय्यै, अशय्यै, अनवकाशिक, सलिलाहार, वायुभक्ष, निलय, स्थण्डलशायी, ऊर्ध्ववासी, दान्त, आर्द्रपटवासा, सजग, तपोनिष्ठ और पञ्चाग्नि सेवी तपस्वियों की चर्चा की है। इन सभी ऋषियों की विशेषता बताते हुये महर्षि ने लिखा है कि सभी के सभी ब्रह्म तेज से सम्पन्न थे। उन्होंने ऐसा सुदृढ़ योग का अभ्यास किया था कि उनका चित्त एकाग्रचित्त हो गया था।[१] इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि ये सभी चतुर्थ आश्रमवासी थे।

१. वैखनसा वालखिल्याः सम्प्रक्षाला मरीचिपाः ।
अश्मकुट्टाश्च बहवः पत्राहाराश्च तापसाः ।।
दन्तोलूखलिनश्चैव तथैवोन्मज्जकाः परे ।
गात्रशय्या अशय्याश्च तथैवानवकाशिकाः ।।
मुनयः सलिलाहारा वायुभक्षास्तथापरे ।
आकाशनिलयाश्चैव तथा स्थण्डिलशायिनः ।।
तथोर्ध्ववासिनो दान्तास्तथाऽऽर्द्रपटवाससः ।
सजपाश्च तपोनिष्ठास्तथा पञ्चतपोऽन्विताः ।।
सर्वे ब्रह्मपा श्रिया युक्ता दृढ़योगसमाहिताः ।
शरभङ्गाश्रमे राममभिजग्मुश्च तापसाः ।। वा. रा. (अरण्य.) ६/२–६

वाल्मीकि रामायण में इस वर्णन में जिन ऋषियों के समुदाय का कथन किया गया है उनका कर्तव्य निरूपण करते हुये एक टीकाकार ने इन सभी नामों के अर्थ को स्पष्ट किया है। इससे जहाँ एक ओर उन ऋषियों का परिचय मिलता है वहीं दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि चतुर्थ आश्रम में निवास करने वाले ये व्यक्ति किस प्रकार का आचरण करते हुये अपना जीवन व्यतीत करते थे। इस सन्दर्भ में टीकाकार ने लिखा है कि वैखानस का तात्पर्य ऋषियों के उस समुदाय से है जो ब्रह्मा जी के नख से उत्पन्न हुये, सम्प्रक्षाल का अभिप्राय उनसे है जो भोजन करने के पश्चात् अपने वर्तन स्वच्छ करके रख देते थे और किसी को कुछ भी नहीं बचाते थे। मरीचिप का अभिप्राय उनसे है जो सूर्य और चन्द्रमा की किरणों का पान करके तपस्या में संलग्न रहते थे। अश्मकुट्ट कच्चे अन्न को पत्थरों से कूटकर खाते थे, पत्राहार पत्रों का आहार करते थे, दन्तोलूखली दांतों से ही ऊखल का काम लेते थे, उन्मज्जक कण्ठ तक पानी में डूबकर तपस्या करते थे, गात्रशय्यै बिना विस्तर के अपने हाथों को तकिया के रूप में प्रयोग करके सोते थे। अशय्य वह थे जो शय्या के साधनों से रहित होते थे। इसी तरह से इस टिप्पणीकार ने यह लिखा है कि अनवकाशिक ब्राह्मण वह थे जो निरन्तर सत्कर्म का पालन करते थे और इस कारण से कभी–भी अवकाश नहीं पाते थे।

इन ऋषियों के नाम के आधार पर किये गये परिचयात्मक विवरण में सलिलाहारी उनको कहा गया है जो केवल जल पीकर रहते थे और वायु भक्ष वे संन्यासी थे जो केवल वायु का भक्षण करके अपने जीवन का निर्वाह करते थे। इसी तरह से आकाशनिलय उन संन्यासियों को कहा गया है जो बिना किसी छाया के खुले आकाश में रहते थे तथा स्थण्डिलशायी वे कहे गये जो भूमि पर सोते थे। ऊर्ध्ववासी संन्यासी उन्हें कहा जाता था जो पर्वत आदि के ऊँचे शिखरों में रहते थे, वहीं पर निवास करते थे और वहीं रहकर अपनी तपस्या पूर्ण करते थे। इसी तरह से दान्त और आर्द्र–पटवासा संन्यासी वे होते थे जो भली प्रकार से अपनी इन्द्रियों का दमन कर सकते थे और जो अधिक समय तक गीले वस्त्र पहनकर रहे। इसी प्रकार से जो निरन्तर जप में लगे रहते थे उन्हें सजप ऋषि कहा गया है जबकि परमतत्त्व में स्थिर रहने वाले ऋषियों को तपोनिष्ठ और गर्मी में भी सूर्य के समक्ष अग्नि का सेवन करने वाले ऋषियों को पञ्चाग्नि सेवी कहा गया है।[१]

इस रूप में वाल्मीकि रामायण में विभिन्न आश्रमों के सन्दर्भ में भले ही संन्यासियों के स्वरूप का वर्णन क्रम से न किया गया हो और न ही इस आश्रम का कथन व्यवस्थित ढंग से किया गया हो किन्तु कुछ सङ्केत ऐसे अवश्य हैं जिनमें संन्यास आश्रम का कथन किया गया है और प्राचीन वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया गया है।

१. वा. रा. (अरण्य) षष्ठ वर्ग में टिप्पणी

कर्म सिद्धान्त

कर्म सिद्धान्त को लेकर भारतीय चिन्तकों ने अपने मत—मतान्तर को प्रकट करते हुये भी यह सिद्धान्त लगभग एक मत से स्वीकार किया है कि कर्म करने के अतिरिक्त मनुष्य के पास और कोई दूसरा सिद्धान्त नहीं है इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म की अनिवार्यता का उपदेश करते हुये अर्जुन को श्रीकृष्ण ने कहा था कि कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो बिना कर्म किये हुये एक क्षण भी रह सकता हो। कर्म करना सभी के लिये अनिवार्य है, अपरिहार्य है और जो भी कोई कर्म कर रहा है वह अवश होकर प्राकृतिक स्वभाव से अपना कर्म कर रहा है।[१] कर्म की इस अनिवार्यता को और भी अपरिहार्य बनाते हुये यह कहा गया कि यदि कोई अपने जीवन में निष्कामता भी चाहता है तो उसके लिये भी यह आवश्यक है कि वह पहले अपने लिये निर्धारित कर्म करे और बाद में उसी कर्म के माध्यम से नैष्कर्म्य भाव को प्राप्त हो।[२] इस स्थिति में जो व्यक्ति के लिये जीवन में कर्म करने का निर्धारण किया गया है उसके अभिप्राय के रूप में यह कहा गया है कि कर्म से जहाँ लौकिक फल की सिद्धि होती है वहीं कर्म के माध्यम से ही नैष्कर्म स्वभाव पाकर व्यक्ति अलौकिक सिद्धि का अधिकारी भी बन जाता है।

१. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।। भ. गी. ३/५, भा.म.पु.,पृ. ३०९

२. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।। वही, २/४७

वाल्मीकि रामायण में अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं जिनमें कर्म करने की प्रेरणा स्थान—स्थान पर प्राप्त होती है और यह भी सङ्केत किया गया दिखायी देता है कि जो भी कर्म करता है वह श्रेष्ठ फल की प्राप्ति करता है। एक स्थान पर विश्वामित्र के आगमन पर महाराज दशरथ ने कहा था कि हे महाराज! आप मेरे राज्य में पधारे यह मेरे लिये सौभाग्य का विषय है। आप गृहस्थ के लिये देवता हैं। मैंने जो धर्मपूर्वक कर्म किये थे उन्हीं का यह फल है जिनसे आप यहाँ पधारे और अब यह प्रतीत हो रहा है कि मेरे अभ्युदय का समय उपस्थित हो गया है।[१] इस सङ्केत में महर्षि वाल्मीकि इस ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि जब राजा ने उत्तम कर्मों का सम्पादन किया था तभी फल रूप में उन्हें महर्षि विश्वामित्र के दर्शन हुये थे और उन ऋषि के दर्शन से यह परिणाम मिलने वाला था कि उनका विकास होवे।

एक स्थान पर शुभ कर्म किये जाने पर जो शुभ फल प्राप्त होता है उसका निर्देश महाराज भगीरथ द्वारा प्राप्त राज्य के बाद उनके पिता दिलीप के सत् कर्मों के किये जाने पर इन्द्रलोक की प्राप्ति के रूप में दिखाया गया है। राजा दिलीप ने अपने पुण्य के प्रभाव से इन्द्र लोक प्राप्त किया था जो उनके सत्कर्मों का फल था।[२]

---

१. कर्ता चाहमशेषेण दैवतं हि भवान् मम ।
मम चायमनुप्राप्तो महानभ्युदयो द्विज ।
तवागमनजः कृत्स्नो धर्मश्चानुत्तमो द्विज ।। वा. रा. (बाल.) १८/५८

२. इन्द्रलोकं गतो राजा स्वार्जितनैव कर्मणः ।
राज्ये भागीरथं पुत्रमभिषिच्यनरर्षभः ।। वा. रा. (बाल.) ४२/१०

श्रीराम लक्ष्मण के साथ महर्षि विश्वामित्र को लेकर सरयू गङ्गा सङ्गम पर एक आश्रम का अवलोकन करते हैं। विश्वामित्र ने श्रीराम को सम्बोधित करते हुये कहा कि पूर्व में कन्दर्प शरीर धारण करके इसी आश्रम में विचरण करता था। भगवान् शिव भी यहीं एकाग्रचित्त होकर नियमपूर्वक तपस्या करते थे। एक दिन काम ने शिव की तपस्या भङ्ग करने की दृष्टि से उन पर दृष्टि डाली जिसे भगवान् शिव ने खण्डित करते हुये काम को अङ्गहीन कर दिया। तभी से काम का नाम अनङ्ग हो गया और काम ने जहाँ पर अङ्गों को छोड़ा था उस देश का नाम अङ्ग पड़ गया। इस समय इस आश्रम में जो ऋषि रह रहे हैं वे उन भगवान् शिव के धर्मपरायण शिष्य थे। इन शिष्यों का पूर्वकाल का कृतपाप नष्ट हो गया है और अब ये निष्पाप हैं।[1] इस सङ्केत में जहाँ व्यक्ति के कार्यों से उसे पाप की प्राप्ति होती है वहीं उसके सत् कार्यों से उसके पाप नष्ट भी होते हैं। इससे कर्मों की महत्ता भी प्रकट होती है क्योंकि अपकर्मों से व्यक्ति का पतन होता है जबकि सत्कर्मों से उसका उत्थान होता है। इस सङ्केत में यह भी सङ्केतित है कि व्यक्ति को एक जन्म के कर्मों का फल दूसरे जन्म तक प्राप्त होता है। क्योंकि इस सङ्केत में ऋषियों द्वारा पूर्वकाल में कुछ ऐसे अकृत किये गये होंगे जिससे इन्हें पाप प्राप्त हुआ था और अब इन्होंने ऐसे कुछ सुकृत किये जिससे ये निष्पाप हो गये।

---

१. तस्यायमाश्रमः पुण्यस्तस्येमे मुनयः पुरा ।
शिष्याधर्मपरा वीर तेषां पापं न विद्यते ।। वा. रा. (बाल.) २३/१५

यह सङ्केत अनेकशः प्राप्त होता है कि व्यक्ति जो कर्म इस जन्म में करता है उसका फल दूसरे जन्म में प्राप्त होता हैं। सङ्केत तो इस प्रकार के भी हैं कि यदि किसी वंश की कोई परवर्ती संतति सत्कर्म करती है तो उसका फल भी पूर्वजों को प्राप्त होता है जैसे कि महाराज अंशुमान ने अपना राज्य अपने पुत्र दिलीप को दिया और वे तपस्या करने के लिये वन में चले गये। वहाँ पर उन्होंने कठोर तपस्या की और तपस्या के फलस्वरूप वे शरीर त्याग करके स्वर्गलोक को प्राप्त हुये।[१] इस सङ्केत में यह स्पष्ट है कि महाराज अंशुमान के द्वारा शरीर धारण करते हुये जो तपस्या की गई थी उसका फल शरीर त्याग के पश्चात् स्वर्गलोक में मिला।

जहाँ तक किसी एक के द्वारा दूसरे को फल प्राप्त होने का सङ्केत है वहाँ पर हम महाराज भगीरथ के तप के प्रभाव को देख सकते हैं। उन्होंने भगवान शङ्कर की प्रार्थना करते हुये अपनी तपस्या के फल के रूप में यह चाहा था कि यदि तप का कोई फल होता हो तो उनके पूर्वजों को उत्तम गति प्राप्त हो। जब भगवान् शिव भगीरथ पर प्रसन्न हुये तो उन्होंने शिव से कहा कि महाराज! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो हमारे पूर्वजों को गङ्गाजल प्राप्त हो। उन्होंने कहा था कि यदि तपस्या का कोई उत्तम फल होता हो तो उस फल की प्राप्ति के रूप में हमारे

१. तस्मै राज्यं समादिश्य दिलीपे रघुनन्दन ।
हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे सुदारुणम् ।।
द्वात्रिंशच्छतसाहस्त्रं वर्षाणि सुमहायशाः ।
तपोवनगतो राजा स्वर्गे लेभे तपोधनः ।। वा. रा. (बाल.) ४२/३–४

पूर्वजों अर्थात् राजा सगर के पुत्रों को स्वर्गलोक की प्राप्ति हो।[१] इस सङ्केत में यह स्पष्ट है कि तपस्या महाराज भगीरथ ने की थी और उस पुण्य का फल भगीरथ के पूर्वजों को मिला था क्योंकि भगीरथ के द्वारा गङ्गा पृथ्वी पर लाये जाने के बाद सगर के पुत्रों का कल्याण हुआ था।

मनुष्य द्वारा किये जाने वाले कर्मों का महत्त्व बहुत अधिक होता है। वाल्मीकि रामायण में एक स्थान पर यह सङ्केत किया गया है कि श्रेष्ठ कर्म से श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होती है जो श्रेष्ठ कर्म करता है वह श्रेष्ठ फलों की प्राप्ति करता है और जो श्रेष्ठ कर्मों का सम्पादन नहीं कर पाता उसे हीन फल की प्राप्ति होती है।

वाल्मीकि रामायण में एक सन्दर्भ इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि जब महाराज दशरथ ने विश्वामित्र को श्रीराम को देने से मना कर दिया तब विश्वामित्र बहुत अधिक क्रोधित हुये। उस स्थिति में महाराज विश्वामित्र ने दशरथ से कहा कि पहले तुमने मेरे द्वारा माँगी हुई वस्तु मुझे देने का वचन दिया था किन्तु अब तुम उस वचन को तोड़ना चाहते हो। इस प्रकार प्रतिज्ञा का त्याग करना और अपने दिये हुये वचनों को छोड़ना उचित नहीं है। यह कुल के विनाश का सूचक है।[२]

---

१. यदि मे भगवान् प्रीतो यद्यस्ति तपसः फलम् ।
सगरस्यात्मजाः सर्वे मत्तः सलिलमाप्नुयुः ।।
गङ्गायाः सलिलक्लिन्ने भस्मन्येषां महात्मनाम् ।
स्वर्गे गच्छेयुरत्यन्तं सर्वे च प्रपितामहाः ।। वा. रा. (बाल) ४२/१८–१९

२. वही, २१/२

महाराज विश्वामित्र के द्वारा इसप्रकार क्रोध किये जाने पर महर्षि वशिष्ठ ने भी दशरथ जी को सम्बोधित किया और कहा कि आप धर्मकुल में उत्पन्न होने के कारण रघुकुल भूषण हैं इसलिये कोई ऐसा कार्य न करें जो अधर्म का प्रतीक हो। उन्होंने कहा था कि जो कोई यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं अमुक कार्य करुँगा और फिर उस वचन का पालन नहीं करता, उसके यज्ञ—याज्ञादि के कर्म तथा तालाब आदि बनवाने के पुण्य कर्मों का विनाश हो जाता है।[१]

कर्म और कर्म का फल अपरिहार्य रूप से जुड़ा हुआ है इसीलिये वाल्मीकि रामायण में सत्कर्मों का और असत्कर्मों का विस्तार से वर्णन किया गया है। एक स्थान पर तो कर्मों की व्यर्थता का सङ्केत भी है जो नास्तिकता का सङ्केत करता है और जिसमें यह कहा गया है कि देवताओं के लिये यज्ञ और पूजन करने का विधान, दान देने का विधान, दीक्षा ग्रहण करने का विधान, संन्यासी बनने का विधान यह केवल मनुष्यों की प्रवृत्ति को दान की ओर मोड़ने का प्रयास है। फल आदि भोगने के लिये इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिये यह निश्चय है कि जो प्रत्यक्ष है वही लोक है उसके अतिरिक्त अन्य कोई न लोक

१. इक्ष्वाकूणां कुले जातः साक्षाद् धर्म इवापरः ।
धृतिमान् सुव्रतः श्रीमान् न धर्मे हातुमर्हसि ।।
त्रिषु लोकेषु विख्यातो धर्मात्मा इति राघवः ।
स्वधर्मे प्रतिपद्यस्व नाधर्मे वोढुमर्हसि ।।
प्रतिश्रुत्य करिष्येत उक्तं वाक्यमकुर्वतः ।
इष्टापूर्तवधो भूयात् तस्माद् रामं विसर्जय ।। वा. रा. (बाल) २२/६–८

है और न लाभ है।[1] इसके विपरीत दूसरा सिद्धान्त यह है कि कर्म महत्त्वपूर्ण है। इसलिये जो सत्कर्म करता है वह श्रेष्ठ लोक में जाता है, जगत् का पालन करता है और समूचे लोक का उद्धार करता है दूसरा नरक में डूबता है। इसलिये श्रीराम ने यह कहा था कि जो अपनी प्रतिज्ञा झूठी करने के कारण धर्म से भ्रष्ट हो जाता है उस चञ्चल चित्त वाले पुरुष के हव्य और कव्य को देवता स्वीकार नहीं करते। इसलिये सत्य, धर्म, पराक्रम, समस्त प्राणियों पर दया करना, सबसे प्रिय वचन बोलना, देवताओं, अतिथियों और ब्राह्मणों की पूजा करना स्वर्ग लोक का मार्ग है।[2]

इस रूप में इस प्रकार के पर्याप्त सङ्के.त वाल्मीकि रामायण में हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कर्म का सिद्धान्त व्यावहारिक है और जो जिस प्रकार का कर्म करता है वह तदनुरूप फल का भागीदार बनता है। फल उसी जन्म में अथवा दूसरे जन्म में भी प्राप्त होता है।

१. स नास्ति परमित्येतत् कुरु बुद्धिं महामते ।
प्रत्यक्षं यत् तदानिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ।। वा. रा. (अयो.) १०८/१७

२. एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम् ।
भज्यत्येको हि निरयं एकः स्वर्गे महीयते ।।
सत्यं च धर्मे च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ।। वा. रा. (अयो.) १०९/१५,३१

पुनर्जन्म

वाल्मीकि रामायण में पुनर्जन्म के अनेक आख्या भरे पड़े हैं। प्रारम्भ में ही बालकाण्ड में राजा सुमति और सत्यवती के पूर्व वृत्तान्त का कथानक कहा गया है। रामकथा का महत्व कहते हुए भी सनत्कुमार ने ऋषियों की जो कथा सुनाई थी, उसमें उन्होंने कहा था कि द्वापर में चंन्द्रवंश में एक राजा थे जो सत्यवादी थे और सभी प्रकार के सत्कर्मों में प्रवृत्त रहते थे। वे राजा सभी प्राणियों के हितैषी थे और सम्पूर्ण प्रजा की हित चिन्ता में सदैव लगे रहते थे। जिस प्रकार का परम उदार वाला चरित्र राजा का था, उसी प्रकार का शीलवान स्वभाव रानी का भी था और उनकी रानी का नाम सत्यवती था। राजा और रानी दोनों मिलकर श्रीराम की सेवा में सदा निरत रहते थे और उनका यह स्वभाव देखकर देवता भी सदा उनकी प्रशंसा किया करते थे।

एक दिन राजा के निवास पर उनसे मिलने के लिए विभाण्डक मुनि आए, जिन्हें देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुए और पत्नी सहित राजा ने उन ऋषि का बहुत ही प्रकार से स्वागत और सत्कार किया। जब ऋषि का सभी प्रकार से स्वागत हो चुका और वे अपने आसन पर बैठ गए तो महाराज ने हाथ जोड़ कर कहा कि महाराज! आपका आगमन मेरे सौभाग्य का फल है। आप आज्ञा प्रदान करें कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

राजा की ऐसी विनम्रता देखकर ऋषि बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि राजन्! आप यह बतायें कि आप अन्य कोई उपासना न करके केवल श्रीराम की उपासना ही अहर्निशि क्यों करते रहते हैं। इस पर विभाण्डक ऋषि को राजा ने अपने पूर्व जन्म की कथा सुनाते हुए कहा था कि महाराज! मैं अपने पूर्व जन्म में मालति नाम का एक शूद्र था और अपने वंश चरित्र के अनुसार सदा ही अकर्म में प्रवृत्त बना रहता था। मैं दूसरों की चुगली करने वाला, दूसरों से द्वेष करने वाला, धर्म का द्रोह करने वाला, देवों की सम्पत्ति का अपहरण करने वाला था। मैं निरन्तर गो हत्या करता था, चोरी करता था और ब्राह्मणों की हत्या में भी संलग्न रहता था। इस प्रकार के कार्य करने से मुझे सभी ने त्याग दिया था, जब एक दिन में भटकता हुआ श्री वशिष्ठ जी के आश्रम के पास पहुँचा।[१]

१. अहमासं पूरा शूद्रो मालतिनभि सन्ततिम् ।
कुमार्गनिरतो नित्यं सर्वलोकहिते रतः ।।
पिशुनो धर्मविद्वेषी देवद्रव्यापहारकः ।
महापातक संसर्गो देवद्रव्योपजीवकः ।।
गोपनश्च बह्महा चौरो नित्यं प्राणिवधे रतः ।
नित्यं निष्ठुरवक्ता च पापी वेश्यापरायणः ।।
एकदा क्षुत्परिश्रान्तो निद्राघूर्णः पिपासिनः ।
वसिष्ठस्याश्रमं दैवादयश्यं निर्जने वने ।।
वसिष्ठस्याश्रमे तस्य निवासं कृतवानहम् ।
शीर्णस्फटिकसंधानं तत्र चाहमकारिषम् ।। वा. रा. (माहा.) ३/२८—३६

अपने जीवन की कथा सुनाते हुए उस मालति ने कहा कि महाराज! कुछ दिनों के बाद मेरी पत्नी भी वहीं पर आ गई। मेरी पत्नी का नाम पूर्व जन्म में काली था। वह बहुत ही साध्वी थी। उसका जन्म मध्यप्रदेश में निषादकुल में हुआ था। उसके भाई—बन्धुओं ने उसका परित्याग कर दिया था। उसने जब अपने पूर्व जन्म की कथा सुनाई थी, तब मुझसे कहा था कि उसके पिता का नाम दाग्निक था। वह भी सदा दूसरे का धन चुराती थी और दूसरे की चुगली करती थी। उसने क्रोध में आकर एक दिन अपने पूर्व पति की हत्या कर दी थी और तबवह मेरे पास आई थी। उसी के आने के बाद हम दोनों पति—पत्नी के रूप में मांसाहारी होकर वसिष्ठाश्रम के पास रहकर अपना जीवन व्यतीत करने लगे थे।[१]

१. अथेयमागता साध्वी विन्ध्यदेशसमुद्भवा ।
निषादकुलसम्भूता नामा कालीति विश्रुता ।।
बन्धुवर्गैः परित्यवक्ता दुखिता जीर्णविग्रहः ।
दाम्भिकस्य सुता विद्वन् न्यवसद् विन्ध्यपर्वते ।
परस्वहारिणी नित्यं सदा पैशुन्यवादिनी ।।
बन्धुवर्गैः परित्यवक्ता यतो हतवती पतिम् ।
कान्तारे विजने ब्रह्मन् मत्समीपमुपागता ।।
उद्यमार्थे गतो चैव वसिष्ठस्याश्रमं तदा ।
दृष्ट्वा चेव समाजं च देवर्षिणिं च सन्तम् ।।
रामायणपरा विप्रा माघे दृष्टा दिने दिने ।। वा.रा. (माहा.) ३/३८, ३९, ४४, ४५, ४६

इस वृत्तान्त के बाद मातलि ने कहा कि एक दिन हम वहाँ पर वसिष्ठ जी के आश्रम पर भूखे—प्यासे रहे और फिर हमने नौ दिन तक लगातार भूखे रहकर श्रीराम की कथा सुनी। उसी कथा के श्रवण के पश्चात् हमारी मृत्यु हो गई और तब श्री रामकथा के प्रभाव से हमें लेने के लिए देवदूत पधारे। उन देवदूतों ने हमें भगवान् के उस लोक में पहुँचा दिया, जहाँ पहुँचने के पश्चात् संसार का ही नहीं, अलौकिक तत्त्व भी प्राप्त हो जाता है। हम जितने दिन तक देवलोक में रहे, उतने दिनों तक वहाँ रहकर हमने विविध भोगों का भोग किया और इसके बाद हम ब्रह्मलोक में आए। वहाँ रहकर भी हमने अनन्त भोगों का भोग किया और तब बाद में इन्द्रलोक आए, वहाँ भी हमने अनेक प्रकार के भोगों का भोग किया और फिर पृथिवी पर उत्पन्न हुए।[1]

---

१. रामायणकथां श्रोतुं नवाहा चैव भक्तितः ।
तत्काल एव पञ्चत्वमावयोरभवन्मुने ।।
कर्मणा तेन तुष्टात्मा भगवान् मधुसूदनः ।
स्वदूतान् प्रेषयामास यदाहरणकारणात् ।।
भुक्तवन्तौ महाभोगान् यावत् कालं श्रृणुष्व में ।
युगकोटिसहस्त्राणि युगकोटिशतानि च ।।
उषित्वा रामभवने ब्रह्मलोकमुपागतौ ।
तावत्कालं च तत्रापि स्थित्वैन्द्रपदभागतौ ।
तत्रापि तावत् कालं च भुक्त्वा भोगाननुत्तमान् ।
ततः पृथिवीं वयं प्राप्ताः क्रमेण मुनिसत्तम ।। वा.रा. (माहा.) ३/५०—५५

वाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड में पुनर्जन्म का एक और कथानक उपलब्ध है जिसमें एक कुत्ते को किसी के द्वारा मारा जाता है और वह श्रीराम से न्याय पाने के इच्छा लेकर उनके दरबार में जाता है। श्रीराम के दरबार में जाकर कुत्ते ने कहा था कि सर्वार्थसिद्ध नामक एक भिक्षु ने मेरे निरपराध होने पर भी मेरे सिर में डण्डे से प्रहार किया है जिससे मेरा सिर फट गया है। कृपया आप इसे दण्ड दें और मुझे न्याय देवें। इस पर जब श्री राम ने उस कुत्ते की इच्छा के अनुरूप महन्त बना दिया, तब उस कुत्ते ने अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त निवेदित करते हुए श्रीराम से कहा था कि मैं पूर्व जन्म में कालञ्जर के मठ में मठाधीश था। वहाँ मैंने यज्ञ का अवशिष्ट खाया, यद्यपि तब ब्राह्मणों—अतिथियों की सेवा की थी, तथापि मुझे इस कुत्ते की योनि में आना पड़ा।[१]

इस रूप में इस कथानक के सन्दर्भ में भी पुनर्जन्म की स्मृति का सङ्केत है और यह भी सङ्केत है कि वाल्मीकि रामायण में अनेक स्थलों पर पुनर्जन्म का सङ्केत हैं।

१. अहं कुलपतिस्तत्र आसं शिष्टान्न भोजनः ।
देवद्विजाति पूजायां दासीदासेषु राघव ।।
संविभागी शुभरतिर्देवद्रव्यस्य रक्षिता ।
विनीतशीलसम्पन्नः सर्वसत्वहितेरतः ।
सोऽहं प्राप्त इमां घोरामवस्थां अधमां गतिम् ।
क्रुद्धो नृशंसः परुषः अविद्वांश्चाप्यधार्मिकः ।
कुलानि पातयत्मेव सप्त सप्त च राघव ।। वा. रा. (उत्त.) प्रक्षिप्त २/४३—४६

संस्कार

मनुष्य जीवन के लिए संस्कारों का अतिशय महत्त्व है। संस्कारों के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इनके सम्पादन से व्यक्ति के जीवन में तीन प्रकार के लाभ होते हैं। इसीलिए तीन प्रकार के संस्कारों का कथन भी किया गया है। ये संस्कार हैं—दोष परिमार्जन संस्कार, अतिशयाधान संस्कार और हीनांगपूर्ति संस्कार। इसमें से जो दोष परिमार्जन संस्कार है, वह माता—पिता के वीर्य में आए हुए दोषों का परिमार्जन करता है, जो दूसरा संस्कार अतिशयाधान वाला है, वह व्यक्ति में गुणों की अतिशयता प्रकट करता है। अर्थात् इस संस्कार के किए जाने से व्यक्ति में श्रेष्ठ गुणों का आधान होता है, इसीप्रकार से जो तीसरा संस्कार हीनांगपूर्ति का है, उससे जन्म लेने वाले का कोई भी अंग अपूर्ण नहीं रह जाता और इस प्रकार से जन्म लेने वाला जीव पूर्णाङ्ग वाला ही जन्म लेता है।[१]

प्राचीन समय में संस्कारों की संख्या में मतभेद रहा है। कहीं पर इनकी संस्था ग्यारह बताई गई है[२] तो कहीं पर इनकी संख्या तेरह कही गई है। गौतम धर्म सूत्र में संस्कारों की गणना करते हुए इनकी संख्या चालीस तक बताई गई है।[३] महर्षि मनु ने गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामध्येय, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, चयन क्रिया, कर्णवेध, उपनयन, केशान्त, व्रतादेश, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, श्मशानकर्म नामक संस्कारों की गणना की है।[४]

---

१. वै. भा.सं., पृ. २०९

२. हि. स., पृ. २१—२२

३. गौ. ध. १/३

४. म. स्मृ., पृ. २६—३०

वाल्मीकि रामायण में अनेक संस्कारों का उल्लेख किया गया है किन्तु इनमें भी कुछ मुख्य संस्कार ही उल्लिखित हैं। जैसे कि महाराज दशरथ के पुत्र होने पर नाम संस्कार का उल्लेख विस्तार से है और उसी तरह से मिथिला में भी राम आदि चारों भाईयों के विवाह होने पर विवाह संस्कार का उल्लेख विस्तार से है। इसी तरह अनेक लोगों की मृत्यु होने के कारण अन्त्येष्टि संस्कार का उल्लेख भी विस्तार से है।

महाराज दशरथ ने यज्ञ के उपरान्त चार पुत्र प्राप्त किए। वे और अयोध्यावासी परम प्रसन्न हुए। जब इनका जन्म हुआ तो अयोध्या मे एक बहुत बड़ा उत्सव हुआ। गन्धर्वों द्वारा मधुर गीत गाए गए और अप्सराओं ने मनमोहक नृत्य प्रस्तुत किया। महाराज दशरथ ने ब्राह्मणों को धन और गायें देकर सम्मानित किया। राजा ने ब्राह्मणों, पुरवासियों और जनपदवासियों को बड़ा ही सुन्दर और सुस्वादु भोजन कराया।

महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है कि जब जन्म के ग्यारह दिन बीत गए तब महर्षि वशिष्ठ ने, जो दशरथ कुल के आचार्य और कुलगुरु थे, श्रीराम ओर उनके भाईयों का नामकरण संस्कार कराया था। तब उन्होंने ज्येष्ठ पुत्र का नाम राम रखा था। जो दूसरे पुत्र कैकेयी कुमार थे, उनका नाम भरत किया था। इसी तरह से सुमित्रा के जो दो पुत्र थे, उनमें से एक का नाम लक्ष्मण और दूसरे पुत्र का नाम शत्रुघ्न रखा था। इस नामकरण संस्कार के अवसर पर राजा ने नगर और जनपद के ब्राह्मणों का भरपूर सम्मान

किया था तथा उन्हें अनेक प्रकार से दान देकर सम्मानित किया था।[१]

नामकरण संस्कार के इस क्रम में महर्षि ने लिखा है कि महर्षि वशिष्ठ ने आगे समय–समय पर श्रीराम आदि सभी पुत्रों के अन्य संस्कार भी कराये। इन संस्कारों में जातकर्म संस्कार का सङ्केत किया गया है।[२]

श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के विद्यारम्भ संस्कार का उल्लेख बहुत स्पष्टता के साथ तो नहीं किया गया है क्योंकि विश्वामित्र के साथ जाने के कारण इनका विधिवत् आश्रम में जाकर पढ़ना तो हुआ नहीं; इतना अवश्य महर्षि वाल्मीकि ने सङ्केत किया है कि वे प्रतिदिन वेदों का स्वाध्याय करते थे, पिता की सेवा करते थे और धनुर्वेद में दत्त–चित्त होकर अभ्यास करते थे।[३]

●●

१. अतीत्यैकादशाहं तु नाम कर्म तथा करोत् ।

ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकेयी सुतम् ।।

सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा ।

वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कुरुते तदा ।

ब्राह्मणान् भोजयामास पौरजानपदानपि ।

अददद् ब्राह्मणानां च रत्नौधममलं बहु ।। वा. रा. (बाल.) १८/२१–२३

२. तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत् ।

तेषां केतुरिव ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः ।। वही, १८/२४

३. ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः ।

पितृशुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः ।। वही, १८/३६

अन्य संस्कारों में भी वाल्मीकि जी ने श्रीराम तथा उनके भाईयों के विवाह संस्कार का वर्णन विधिपूर्वक और विस्तार से किया है। उन्होंने लिखा है कि जब श्रीराम ने जनक का धनुष तोड़ दिया तब विजय नामक विवाह का मुहूर्त आने पर श्रीराम दूल्हे के रूप में तैयार हुए और उन्होंने विवाह के पूर्व वे सभी मंगल आचरण किए जो उस समय किए जाने चाहिए थे।[१]

विवाह संस्कार की सम्पन्नता का विस्तार से वर्णन महर्षि ने किया है। उन्होंने लिखा है कि वशिष्ठ जी ने महर्षि विश्वामित्र और शतानन्द को आगे करके विवाह मण्डप में विधिपूर्वक वेदी बनाई। उसे चारों ओर से सुगन्धित फूल—मालाओं से सजाया। इसके साथ ही उस वेदी के चारों ओर यव के अंकुरों से चित्रित कलश, अंकुर, जमें हुए सकोरे, धूमयुक्त धूम्रपात्र, शंखपात्र, स्रुवा, स्रक् अर्ध्य आदि पूजन के पात्र, लावा से भरे हुऐ पात्र और धोए हुए अक्षत यथा स्थान रख दिए थे। इसके बाद महातेजस्वी महामुनि वशिष्ठ जी महाराज ने बराबर—बराबर कुशों को वेदी के चारों ओर विछाकर मन्त्रोचार करते हुए विधिपूर्वक अग्नि का स्थापन किया था। बाद में महर्षि वशिष्ठ ने

१. युक्ते मुहूर्ते विजये सर्वाभरणभूषितैः ।
भ्रातृभिः सहितो रामः कृतकौतुकमंगलः ।
राजा दशरथो राजन् कृतकौतुकमंगलैः ।
पुत्रैनरवरश्रेष्ठो दातारमभिकांक्षते ।। वा. रा. (बाल.) ७३/९—११

वैदिक मन्त्रों का पाठ किया और वेदपाठ करते हुए प्रज्ज्वलित अग्नि में हवन किया।[१]

इसके बाद महाराज जनक ने सभी प्रकार के वस्त्रालंकारों से सुसज्जित सीता को मण्डप वेदी में उपस्थित किया और श्रीराम से कहा कि यह मेरी पुत्री तुम्हारी सहधर्मिणी के रूप में उपस्थित है। इसे तुम अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करो। यह अपने पूरे जीवन में तुम्हारे साथ छाया के रूप में उपस्थित रहेगी। इसी प्रकार से राजा ने श्रीराम सहित अन्य भाईयों को भी अपनी अन्य पुत्रियाँ दी।

....

१. तथेत्युक्त्वा तु जनकं वसिष्ठो भगवानृषिः ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य शतानन्दं च धार्मिकम् ।।
प्रपामध्ये तु विधिवद् वेदिंकृत्वा महातपाः ।
अलंचकार तां वेदिं गन्धपुष्पैः समन्ततः ।।
सुवर्णपलिकामिश्च चित्रकुम्भैश्च सांकुरैः ।
अंकुराढ्यै सरावैश्च धूपपात्रैः सधूपकैः ।।
शंखपात्रैः स्रुवैः स्रग्भिः पात्रैरर्घ्यादिपूजकैः ।
लाजपूर्णैश्च पात्रीभिरक्षतैरपि संस्कृतैः ।
दर्भैं समैः समास्तीर्य विधिवन्मन्त्रपूर्वकम् ।।
अग्निमाधाय तं वेद्यां विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ।
जुहावाग्नौ महातेजा वसिष्ठो मुनिपुंगवः ।। वा. रा. (बाल.) ७३/१९–२४

अन्य संस्कारों की अपेक्षा वाल्मीकि रामायण में अन्त्येष्टि संस्कार का सन्दर्भ अनेक स्थानों पर आया है। महाराज दशरथ का शरीरान्त हुआ और श्री भरत ने अपने पिता का विधिपूर्वक अन्त्येष्टि संस्कार किया। श्री वशिष्ठ जी ने राजा की अग्निशाला से अग्नियाँ बाहर निकालीं और याजकों तथा ऋत्विजों द्वारा अग्नि में पहले विधिपूर्वक हवन किया गया। इसके बाद राजा के पार्थिव शरीर को पालकी में लिटाकर श्मशान भूमि ले गए। श्मशान भूमि में पहुँचने पर चन्दन की लकड़ियाँ लाकर चिता बनाई गई और उस चिता में अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्य डाले गए। तब, आचार्य की आज्ञा से उसमें अग्नि प्रज्ज्वलित की गई।[१]

इसी प्रकार से जटायु और रावण के अन्तिम संस्कारों का सङ्केत भी किया गया है। श्रीराम ने जटायु की मृत्यु पर अपने हाथ से अग्नि देकर उसका संस्कार किया था।[२]

रावण के दाह संस्कार का सङ्केत भी वाल्मीकि रामायण में यथा स्थान किया गया है। उसका संस्कार भी वैदिक विधान से हुआ था।[३]

१. तदा हुताशनं हुत्वा जेयुस्तस्य तद् ऋत्विजः ।
जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः ।। वा. रा. (अयो.) ७६/१८

२. एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम् ।
ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुःखितः ।। वही, (अयो.) ६८/३१

३. स ददौ पावकं तस्य विधियुक्तं विभीषणं ।
स्नात्वा चैवार्द्रवस्त्रेण तिलान् दर्भविमिश्रितान् ।। वही (युद्ध) १११/१२०

(ब) पारिवारिक सम्बन्ध और उनका नैतिक तथा आचारात्मक स्वरूप

श्रीरामकथा का गायन और अनुमोदन अनन्तकाल से इसीलिए चल रहा है क्योंकि यह कथा जिस परिवार की है वह परिवार न केवल एक आदर्श परिवार है अपितु उस परिवार के सभी सदस्य परस्पर एक दूसरे के प्रति परम स्नेह रखते है और सदा ही एक–दूसरे का हित चिन्तन करते हैं। इस परिवार में पिता, माता, भाई, बहिन के साथ–साथ पुत्र–पुत्री और गुरु–शिष्यों के सम्बन्ध के साथ–साथ सामाजिकों के साथ स्थापित उनके सम्बन्ध एक विशेष आदर्श की स्थापना करते हैं। वाल्मीकि रामायण महाकाव्य में परिवार के इन सभी पात्रों का इसी रूप में विस्तार से वर्णन हुआ है जिसमें सभी का चारित्रिक व्यवहार और जीवन आदर्श इस रूप में दिखायी देता है जिसमें समाज इस परिवार से प्रभावित होता है।

पिता-माता-

वाल्मीकि रामायण में पिता के रूप में दशरथ जिस प्रकार से दिखायी देते हैं वह उनका रूप परम कृपालु का रूप है। रावण यद्यपि क्रूर है और उसके मन में किसी के लिये करुणा नहीं है तथापि वह भी युद्ध में अपने पुत्रों के मारे जाने पर शोकाकुल होता है और उसके मन का वह करुण भाव दिखायी देता है जिससे वह अपने पुत्रों के प्रति करुणा प्लावित है। इसी तरह का एक सन्दर्भ और भी है जिसमें महाराज दशरथ अनजाने ही एक पिता के पुत्र का वध कर देते हैं और अन्धा पिता जब यह जान पाता है कि उसके पुत्र का वध किसी ने कर दियाहै तो वह न केवल क्रोधाविष्ट होता है अपितु महाराज दशरथ को श्राप भी देता है। वह पुत्र पर अपनी निर्भरता प्रदर्शित करते हुये विलाप करता है और यह कहता है कि पुत्र के न रहने पर भला अब कौन उसे और उसकी वृद्ध माँ को सहारा देगा।

महाराज दशरथ एक ऐसे पिता के रूप में चित्रित हैं जो प्रत्यक्ष रूप में तो श्रीराम को बहुत अधिक चाहते हैं और जो अपने पुत्र के बिना अपना जीवन नहीं रख सकते किन्तु ऐसा भी नहीं है कि वे अपने अन्य पुत्रों को प्रेम न करते हों। श्रीराम को जब की दशरथ अपने राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहते हैं तो कैकेयी इसका न केवल विरोध करती है अपितु वह राम के लिए चौदह वर्ष के वनवास की याचना भी करती है। तब महाराज दशरथ कहते हैं कि सम्भव है कि सूर्य के बिना संसार टिक सके अथवा पानी के बिना खेती में उपज हो सके किन्तु श्रीराम के बिना मेरे शरीर में मेरे प्राण नहीं रह सकते हैं। वे कहते हैं कि तुझे यदि यह जानना हो कि मैं भरत को कितना प्रेम करता हूँ तो भरत को बुला और मैं अपने प्रथम वरदान पर दृढ़ रहता हुआ भरत को अपना राज्य देने के लिए तैयार हूँ। श्रीराम तो ऐसे हैं जिनके विषय में आज तक कभी भी किसी से किसी प्रकार की शिकायत नहीं सुनी गई है।[१]

---

१. तिष्ठेल्लोको बिना सूर्यं सस्यं वा सलिलं बिना ।
न तु रामं बिना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम् ।
अथ जिज्ञाससे मा त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये ।
अस्तु यस्तन्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति ।।
बहूनां स्त्री सहस्त्राणां बहूनां चोपजीविनाम् ।
परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते ।। वा. रा. (अयो.) १२/१३, १६,२७

पिता के रूप में श्रीराम के प्रति महाराज दशरथ के मन में जो अपूर्व स्नेह है, उसका प्रकटीकरण करते हुए महाराज कैकेयी से कहते हैं कि हे कैकेयी ! मैं बूढ़ा हूँ, मृत्यु के तट पर बैठा हूँ, मेरी अवस्था शोचनीय हो रही है, मैं तेरे सामने दीन भाव से गिड़–गिड़ा रहा हूँ। तुझे मेरे ऊपर दया करनी चाहिए। वे कहते हैं कि हे कैकेयनन्दनि! मैं तेरे सामने हाथ जोड़ता हूँ, तेरे पैरों में पड़ता हूँ। श्रीराम को शरण दो और ऐसा कुछ भी न करो जिससे मुझे और तुझे पाप लगे।[१]

महर्षि लिखते हैं कि पुत्र के मोह में आविष्ट होकर महाराज दशरथ इस प्रकार से बार–बार विलाप कर रहे हैं और उनकी चेतना भी लुप्त होती जा रही है। वे शोक मग्न दिखाई देते हैं और चाहते हैं कि किसी भी प्रकार से वे शोक सागर से पार जा सकें।

....

१. मम वृद्धस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः ।
दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि ।।
प्रथिव्यां सागरन्तायां यत् किंचिदधिगम्यते ।
तत् सर्व तव दास्यामि मा च त्वं मन्युमाविश ।।

दूसरे पिता के रूप में एक अन्य चरित्र भी दिखाई देता है जो अपने पुत्र के आकस्मिक रूप से मारे जाने पर अपने आप को निराश्रित अनुभव करता है। महाराज दशरथ मृगया करते हुए अनजाने में ही एक मुनिकुमार का वध कर देते हैं। मुनि और उनकी पत्नी अन्धे थे, इसलिए वे यह नहीं जान पाते कि उनके साथ क्या हुआ? किन्तु राजा दशरथ को जब यह ज्ञान हुआ कि अनजाने में ही उनसे एक अनर्थ हो गया है तो वे स्वयम् मुनिकुमार के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लेते हैं और उनसे बताते हैं कि उन्होंने बिना जाने ही उनके पुत्र का बध कर दिया है।

मुनि और उनकी पत्नी यह जानकर बहुत अधिक क्षुभित होते हैं और पिता के रूप में मुनि अपनी निर्भरता पुत्र पर व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अब कौन स्नान, संध्योपासन तथा अग्नि होत्र करके मेरे पास बैठकर पुत्र शोक से पीड़ित मुझ बूढ़े को सान्त्वना देता हुआ मेरी सेवा करेगा।[१]

१. अज्ञानात् भवतः पुत्रः सहसाभिहतोमया ।
शेषमेवं गते यत् स्यात् तत् प्रसीदतुमे मुनिः ।।
नाभिवादयसे माघ न च मामभिभाषसे ।
किं च शेषे तु भूमौ त्वं वत्स किं कुपितो ह्यसि ।।
नन्वहं तेऽप्रियः पुत्र मातरं पश्य धार्मिकीम् ।
किं च नालिंगसे पुत्र सुकुमार वचो वद ।।
को मां सन्ध्यामुपास्यैव स्नात्वा हुतहुताशनः ।
श्लाघयिष्यत्युपासीनः पुत्रशोकमयार्दितम् ।। वा. रा. (अयो.) ६४/१९, ३०,३१,३३

एक पिता के रूप में विश्वामित्र का भी उल्लेख किया गया है। महर्षि वशिष्ठ और विश्वामित्र में जब युद्ध हुआ तो वशिष्ठ ने अपने हुंकार मात्र से विश्वामित्र के सभी पुत्रों को जलाकर भस्म कर दिया। विश्वामित्र को जब इसका पता चला तो पिता के रूप में वे बहुत ही क्षुब्ध हुए। वे इस प्रकार शान्त हो गए जैसे वेगवान् समुद्र शान्त हो जाता है। उनकी स्थिति इस प्रकार से हो गई जैसे किसी साँप के दाँत तोड़ दिए जावें और वह शान्त हो जावे अथवा जैसे राहुग्रस्त सूर्य निष्प्रभ हो जाता है।[१]

रावण अत्यधिक कठोर और क्रूर स्वभाव का था। उसके मन में कभी–भी किसी के लिये करुणा नहीं थी। वह किसी के प्रति दया भाव वाला भी नहीं था किन्तु पिता के रूप में अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार जानकर वह दु:खी होता है और उस दु:ख से इतना अधिक व्यथित होता है कि मूर्च्छा उसे घेर लेती है। जब रावण को यह पता चला कि युद्ध में उसका पुत्र इन्द्रजित लक्ष्मण के द्वारा मारा गया है तो यह समाचार सुनकर वह मूर्च्छित हो गया। जब कुछ देर के बाद वह होश में आया तो विलाप करने लगा और कहने लगा कि हे पुत्र! तुम पहले भी इन्द्र पर विजय प्राप्त कर चुके हो, तुमने क्रोध आने पर काल को भी अपने वश में किया था फिर यह कैसे सम्भव हुआ कि तुम लक्ष्मण से पराजित हुये। ऐसा कहकर उस रावण ने बहुत समय तक रुदन किया।[२]

---

१. समुद्र इव निर्वेगो भग्नदंष्ट्र इवोरगः ।

उपरक्त इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः ।। वा. रा. (बाल.) ५५/९

२. स तं प्रतिभयं श्रुत्वा वधं पुत्रस्य दारुणम् ।

घोरमिन्द्रजितः संख्ये कश्मलं प्राविशन्महत् ।।

उपलभ्य चिरात् संज्ञां राजा राक्षस पुंगवः ।

पुत्रशोकाकुलो दीनो विललापाकुलेन्द्रियः ।

जित्वेन्द्रं कथमद्य त्वं लक्ष्मणस्य वशं गतः ।। वा. रा. (युद्ध) ९२/४–६

एक पिता का दूसरा स्वरूप वह है जिसमें पिता अपनी कन्याओं को स्नेह तो बहुत करता है किन्तु उसमें यह भी चाहता है कि हमारी कन्यायें उस परिवार को जावें जो परिवार पराक्रमी हो। अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिये महाराज जनक शिव द्वारा प्राप्त धनुष के खण्डन न होने तक अपनी पुत्री सीता का विवाह किसी के साथ नहीं करते। अपनी इसी भावना को व्यक्त करते हुये वे महाराज दशरथ से कहते हैं कि राजन्! मैंने सभी विवाह इच्छुक राजाओं को और युवकों को यह बता दिया है कि जो इस धनुष को नहीं तोड़ पायेगा उसका विवाह मेरी इस कन्या के साथ नहीं हो सकेगा।[१] इस रूप में महाराज जनक अपनी पुत्री सीता को स्नेह तो करते हैं किन्तु अपनी की हुई प्रतिज्ञा की पूर्ति को महत्त्व देते हैं।

माताओं के रूप में श्रीराम परिवार में हमें दो ऐसी मातायें दिखायी देती हैं जिनमें से एक अपनी दासी के द्वारा भ्रमित किये जाने पर पुत्र के वन जाने का और पति के मरण का हेतु बनती हैं और दूसरी ऐसी है जो अपने पुत्र के लिये अपने प्राणों तक को न्यौछावर करना चाहती है। कैकेयी यद्यपि राम के वन जाने का वचन महाराज दशरथ से लेती है किन्तु यह प्रवृत्ति पहले से कैकेयी में दिखायी नहीं देती। श्रीराम के राज्याभिषेक का समाचार जानकर वह प्रसन्न होती है और मन्थरा जब उसे सूचित करती है तो वह मन्थरा से कहती है कि मेरे लिये श्रीराम के अभिषेक से बढ़कर प्रसन्न करने वाला और कोई दूसरा समाचार नहीं है इसलिये इसके बदले में तुम जो चाहो वह वर मुझसे मांग लो।[२]

१. तेषां वरयतां कन्यां सर्वेषां पृथिवीक्षिताम् ।

वीर्यशुल्केति भगवन् न ददामि सुतामहम् ।। वा. रा. (बाल.) ६६/१६

२. न मे परं किंचिदितो वरं पुनः ।

प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम् ।

तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं

वरं परं ते प्रददामि तं वृणु ।। वा. रा. (अयो.) ७/३६

बाद में मन्थरा ने जब कैकेयी को भ्रमित कर दिया तो उसने महाराज दशरथ से ऐसे कठोर वचन लिये, जिन वचनों के प्रभाव की प्रतीक्षा भी उसने नहीं की। कैकेयी ने कहा कि आपने जो प्रथम वर मुझे दिया था उसके बदले में मैं यह चाहती हूँ कि आप इस समय जो श्रीराम के राज्याभिषेक की तैयारी कर रहे हैं उसके बदले में भरत का अभिषेक किया जाये। इसी तरह से हे महाराज! देवासुर संग्राम के समय प्रसन्न होकर आपने मेरे लिये जिस दूसरे वर की याचना की थी उसे प्राप्त करने का समय भी यही है। इसलिये उस दूसरे वरदान के रूप में आप यह प्रतिज्ञा करें कि धीर स्वभाव वाले श्रीराम तपस्वी वेश में वल्कल वस्त्र धारण करके और मृग चर्म धारण करके चौदह वर्षों तक दण्डकारण्य वन में निवास करें और भरत को निष्कण्टक राज्य प्राप्त हो। कैकेयी ने अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिये महाराज दशरथ से कहा कि मेरे इन वरदानों की पूर्ति इस रूप में होवे, जिससे मैं आज ही श्रीराम को वन की ओर जाते हुये देखूँ।[१]

१. ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहिताम् ।
वरौ दयौ त्वया देव तदा दत्तौ महीपते ।।
तौ तावदहमद्यैव वक्ष्यामि श्रणु मे वचः ।
अभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पितः ।।
अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिषिच्यताम् ।
यो द्वितीयो वरो देव दत्तः प्रीतेन मे त्वया ।।
तदा देवासुरे युद्धे तस्य कालोऽयमागतः ।
नव पञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ।।
चीराजिनधरो धीरो रामो भवतु तापसः ।
भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम् ।।
एष मे परमः कामो दत्तमेन वरं वृणे ।
अद्य चैव हि पश्येयं प्रयान्तं राघवं वने ।। वा. रा. (अयो.) ११/२३–२८

दूसरी ओर माँ के रूप में कौशल्या का कारुण्य अत्यधिक रूप से व्यथित करता है। उन्होंने जब यह सुना कि श्रीराम का वनवास हो गया है और अब उनका राज्याभिषेक न होकर उन्हें चौदह वर्ष तक वन में रहना पड़ेगा तब ये बहुत व्यथित हो गयीं। उन्होंने श्रीराम से कहा कि जिस दुःख को अपने पूरे जीवन में मुझे नहीं देखना था तुमसे वियुक्त होकर उस दुःख का दर्शन भला मैं कैसे कर सकूँगी। फिर भी तुम्हारे वन में जाने के पश्चात् तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा करुँगी। श्रीराम को सम्बोधित करते हुये कौशल्या ने कहा था कि मैं तुम्हारे वन जाने के निश्चित विचार को पलट नहीं सकती क्योंकि काल के विधान को पलट पाना सम्भव नहीं हो पाता। फिर भी जब तुम अपने वन का समय पूरा करके वापस आओगे तो पितृ ऋण से उऋण हो जाओगे। उस समय मैं सुख की नींद सो सकूँगी और ऐसा कहकर उन्होंने अपनी कोई बात अथवा इच्छा राम के सामने नहीं रखी जिसमें पुत्र के सामने माता अथवा पिता के वचनों के पालन करने का दुविधा पूर्ण सङ्कट खड़ा हो जाता। कौशल्या ने कहा था कि यह दैव गति है जिसे समझ पाना कठिन होता है।[१]

---

१. गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्नोमि पुत्रक ।
विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः ।।
गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रोभद्रं तेऽस्तु सदा विभो ।
पुनस्त्वपि निवृत्ते तु भविष्यामि गतक्लमा ।।
प्रत्यागते महाभागे कृतार्थे चरितव्रते ।
पितुरानृण्यतां प्राप्ते स्वपिष्ये परमं सुखम् ।। वा. रा. (अयो.) २४/३२–३४

पति-पत्नी-

वाल्मीकि रामायण में पति के रूप में महाराज दशरथ और रावण के स्वरूप को हम देख सकते हैं। ये दोनों राजा थे और तत्कालीन परिस्थितियों में इनके निवास में एक से अधिक पत्नियाँ थीं। श्रीराम के आदर्शों में एक आदर्श यह भी था कि वे एक पत्नी व्रती थे इसलिये उन्होंने कभी भी दूसरे विवाह का विचार नहीं किया। महारानी सीता का रावण के द्वारा हरण होने के बाद भी वे सीता–प्राप्ति के लिये रावण से युद्ध करते रहे और उन्होंने इसी के लिये रावण का वध किया। जब श्रीराम ने समाज के भय से सीता का परित्याग किया था तब भी उन्हें इसका खेद था कि उन्होंने ऐसा क्यों किया? एक स्थान पर यह सन्दर्भ भी है कि युद्ध में जब यह भ्रामक समाचार फैला दिया गया कि रावण पुत्र इन्द्रजित ने सीता का वध कर दिया है तो यह सुनकर श्रीराम पति रूप में व्यथित हुये और सीता की मृत्यु का समाचार जानकर मूर्च्छित हो गये।[१] उनकी यह मूर्च्छा निश्चित रूप से पति के रूप में एक ऐसे पति के स्वरूप का कथन करती है जिसमें पत्नी के प्रति पति का भावपूर्ण स्वरूप देखने को मिलता है। इसी तरह का एक सन्दर्भ और है जिसमें सीता रसातल में प्रवेश करती हैं और श्रीराम यह देखकर दुःख का अनुभव करते हैं। वे सीता को रसातल में प्रविष्ट होता हुआ देखकर कहते हैं कि आज मेरा मन अपूर्व शोक में डूबना चाहता है क्योंकि इस समय मेरी आँखों के सामने से मूर्तिमती लक्ष्मी के समान सीता अदृश्य हो गयी हैं। वे पृथिवी को सम्बोधित करते हुये कहते हैं कि हे पृथिवी! तुम मुझे सीता को लौटा दो अन्यथा मैं अपना प्रभाव तुम्हें दिखाऊँगा। वे

१. तस्य यद् वचनं श्रुत्वा राघवः शोकमूर्च्छितः ।
निपतात तदा भूमौ छिन्नमूल इव द्रुमः ।। वा. रा. (युद्ध.) ८३/१०

सीता वियोग में दु:खित होकर कहते हैं या तो तुम सीता को लौटाओ अन्यथा सीता के साथ रहने के लिये मुझे भी स्थान दो। मैं सीता के बिना नहीं रह सकता।[१]

जिस रूप में अपनी पत्नी के प्रति सहृदय भाव रखने वाले श्रीराम के रूप को हम देखते हैं वैसा स्वरूप हमें श्री दशरथ और रावण का दिखायी नहीं देता। पति के रूप में दशरथ तीन पत्नियों के पति हैं और उनमें भी वे कैकेयी को अधिक महत्त्व देते हैं। दशरथ द्वारा कैकेयी को महत्त्व दिये जाने से ही कौशल्या आदि अपने आप को उपेक्षित अनुभव करती हैं। इसीलिये ऐसा कौशल्या ने कहा भी था कि उन्होंने अपने जीवन में कभी–भी कैकेयी जैसा महत्त्व प्राप्त नहीं किया। उन्होंने स्वीकार किया था कि वे पति के द्वारा तिरस्कृत की गयीं और कैकेयी की दासियों के बराबर समझी गयीं।[२]

रावण को जिस रूप में हम देखते हैं उस रूप में वह कहीं भी पति होकर पत्नी के प्रति आत्मीयता का व्यवहार करता हुआ दिखायी नहीं देता। वह मन्दोदरी जैसी समर्पिता नारी के होते हुये भी सीता का हरण करता है और ऐसा करते हुये किसी भी स्थिति में सङ्कोच का अनुभव नहीं करता। इसलिये वह ऐसा पति है जो किसी भी रूप में पत्नी के प्रति अपने धर्म का निर्वाह नहीं करता।

....

१. अभूतपूर्वं शोकं मे मन: स्प्रष्टुमिवेच्छति ।
पश्यतो मे यथा नष्टा सीता श्रीरिव रूपिणी ।।
वसुधे देवि भवति सीता निर्यात्यतां मम ।
दर्शयिष्यामि वा रोषं यथा मामवगच्छसि ।।
तस्मान्निपत्यितां सीता विवरं वा प्रयच्छमे ।
पाताले नाकपृष्ठे वा वसेयं सहितस्तया ।। वा. रा. (उत्तर.) ९८/४,६,८

२. अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमसम्मता ।
परिवारेण कैकेय्या: समा वाप्यथवावरा ।। वा. रा. (अयो.) २०/४२

पत्नी के रूप में वाल्मीकि रामायण में अनेक नारियों के स्वरूप का अवलोकन किया जा सकता है। महाराज दशरथ की तीन पत्नियाँ और तीनों पति–भक्तन थीं। यद्यपि राजा दशरथ कैकेयी के प्रति अपना अपनत्व भाव रखते थ्वे, तथापि दूसरी प्रतिक्रिया में उनकी अन्य दो पत्नियों ने कभी भी राजा दशरथ के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया। श्रीराम की पत्नी सीता ने तो सदा ही श्रीराम का अनुसरण कियाहै और स्वप्न में भी कभी भी राम से विलग रहने की कल्पना नहीं की। जब श्रीराम को वनवास हुआ तो सीता जी ने इस निमित्त श्रीराम को विवश कर दिया कि वे सीता को साथ लेकर नही वन जावें। उनका कहना था कि वे श्रीराम से विलग होकर नहीं रह सकती हैं।

सीता जी ने पत्नी धर्म का अनुसरण करते हुए भी राम से कहा था कि केवल पत्नी ही अपने पति के भाग्य का अनुसरण करती है। पिता, पुत्र, माता, सखियाँ ही नहीं, अपना शरीर भी उसका सच्चा साथी नहीं होता है। नारियों के लिए इस लोक और परलोक में एक मात्र पति ही सदा आश्रय देने वाला होता है।

उन्होंने कहा था कि ऊँचे–ऊँचे महलों में रहना विमानों पर चढ़कर घूमना अथवा अन्य सिद्धियाँ प्राप्त करने की अपेक्षा स्त्री के लिए सदा ही अपने पति के चरणों की छया में रहना श्रेयस्कर होता है।[१]

---

१. भतुर्भाग्ये तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ।।
न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः ।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गति सदा ।।
प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैहायसगतेन वा ।
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते ।। वा. रा. (अयो.) २८/५,६,९

श्रीराम द्वारा रावण का वध किए जाने के पश्चात् सीता के प्रति जैसे कटु वचन कहे गए थे और जिस रूप में यह कहा गया था कि कोई भी तेजस्वी पुरुष दूसरे के घर में ही हुई अपनी स्त्री को पुनः स्वीकार नहीं कर सकता, उस स्थिति में यदि सीता ने कहा था हे राम! आपने जो मेरे विषय में अपना सन्देह व्यक्त किया है, वह उचित नहीं है। मैंने भूमि से जन्म लिया है इसलिए मैं लौकिक स्त्रियों की भाँति कदापि नहीं हूँ। और फिर उन्होंने दुःखी होकर कहा था कि मेरे लिए चिता तैयार कर दी जाए। मैं अपना यह शरीर उसमें त्यागने के लिए तैयार हूँ। जब अग्नि तैयार की गई तब उन्होंने शपथ लेते हुए यह कहा कि यदि कभी मेरा हृदय एक क्षण के लिए भी श्री रघुनाथ से दूर न हुआ हो तो सम्पूर्ण जगत् के साक्षी अग्निदेव सदा मेरी रक्षा करें। यदि भगवान् सूर्य, वायु, दिशायें, चन्द्रमा, दिन और रात तथा अन्य देवता मुझे शुद्ध चरित्र से जानते हों तो अग्निदेव सभी ओर से मेरी रक्षा करें।[१] और बाद में सीता इस अग्नि परीक्षा से पार हुई थी।[२]

१. यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात् ।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ।।
कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम् ।
राघवं सर्वधर्मज्ञं तथा मां पातु पावकः ।।
अदित्यो भगवान् वायुर्दिशश्चन्द्रस्तथैव च ।
अहश्चापि तथा संध्ये रात्रिश्च पृथिवी तथा ।
यथान्येऽपि विजानन्ति तथा चारित्रसंयुताम् ।। वा. रा. (युद्ध.) ११६/२५–२८

२. अब्रवीत् तु तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः ।
एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ।। वही, ११८/५

राक्षसराज रावण का पति रूप में व्यवहार बहुत ही दारुण था। यद्यपि वह मन्दोदरी को मान देता था और वह रावण के अन्तःपुर में पटरानी थी, तथापि उसने एक पत्नीव्रत का न तो कभी पालन किया और न ही किसी युवती पर आसक्त होने पर उसे बलात् ग्रहण करने में संकोच किया। फिर भी, राक्षसी होने पर भी मन्दोदरी ने अपने स्त्री धर्म का निर्वाह किया। मन्दोदरी ने रावण द्वारा सीता का हरण किए जाने पर बार–बार उसे समझाया था कि यह काम मत करो। इससे अनिष्ट ही होगा। किन्तु रावण ने मन्दोदरी की बात पर ध्यान नहीं दिया था। बाद में जब श्रीराम द्वारा रावण का वध कर दिया गया तो रोते हुए मन्दोदरी तथा अन्य पत्नियों ने कहा था कि राजन्! आज आप जिस दुर्गम और विशाल मार्ग पर गए हैं, वहीं पर मुझे भी ले चलिए। मैं आपके बिना जीवित नहीं रह सकती हूँ। आपकी मृत्यु हो जाने पर भी मेरे शोक पीड़ित हृदय के हजारों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते।[१] इस रूप में शूर्पणखा और कैकेयी आदि के स्वभाव के विपरीत पत्नियाँ अपने पतिव्रत धर्म का आचरण करती हुई ही दिखाई देती हैं।

---

१. प्रपन्नो दीर्घमध्वानं राजन्नद्य सुदुर्गमम् ।
नय मामपि दुःखार्ता न वर्तिष्ये त्वया बिना ।।
इत्येवं विलपन्ती सा वाष्पपर्याकुलेक्षणा ।
स्नेहोपस्कन्नहृदया तदा मोहमुपागता ।।
कश्मलामिहता सन्ना बभौ सा रावणोरसि ।
संध्यानुरक्ते जलदे दीप्ते विद्युदिवोज्जवला ।। वा. रा. (युद्ध.) १११/५९, ८६–८७

पुत्र-पुत्री

वाल्मीकि रामायण में श्रीराम का परिवार और रावण का परिवार अपनी अलग—अलग संस्कृतियों का पालन करता हुआ दिखाई देता है। पिता को महत्त्व देना और उनके वचनों का पालन करना श्रीराम की सबसे बड़ी विशेषता है। कैकेयी को दिए गए वचनों में बँधकर महाराज दशरथ जब श्रीराम को वनवास देते हैं तो श्रीराम उनकी आज्ञा को यथावत् स्वीकार कर लेते हैं और वन जाने को उद्यत हो जाते है। श्रीराम और उनके भाईयों के गुणों का कथन करते हुए महर्षि ने प्रारम्भ में ही यह सङ्केत किया है कि वे अपने पिता की प्रसन्नता बढ़ाने वाले थे।[१]

इसी प्रकार से जब महाराज दशरथ ने श्रीराम से कहा था कि मैं कैकेयी के वचन—बन्धन में फँस गया हूँ और तुम मुझे कैद करके अयोध्या के राजा बन जाओ, तब श्रीराम ने एक योग्य पुत्र की तरह महाराज को उत्तर दिया था कि आप हजारों वर्षों तक राजा बने रहें। मुझे राजा बनने की कोई कामना नहीं है। मैं चौदह वर्षों तक वन—वन में घूमकर आपके वचनों को पूरा कर फिर से लौटकर आपके दर्शन करुँगा।[२]

१. वा. रा. (बाल.) १८/२४

२. अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः ।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भवराजा निगृह माम ।।
भवान् वर्ष सहस्त्राय पृथिव्या नृपते पतिः ।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे राज्यस्य कांक्षितः ।।
नव पंच च वर्षाणि वनवासे विहत्य ते ।
पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिय ।। वा. रा. (अयो.)३४/२६—३०

राम के वन जाते समय जब माँ कौशल्या उनके साथ जाने की इच्छा व्यक्त कर रही थीं तो उन्होंने एक श्रेष्ठ पुत्र की तरह माता से भी कहा था कि मेरे पिता जब तक जीवित हैं तुम तब तक उनकी ही सेवा करो, क्योंकि पति की सेवा करना ही पत्नी का उत्तम आचरण है।[१]

श्रीराम के व्यवहार और आचरण के विरुद्ध लक्ष्मण का व्यवहार दिखाई देता है। लक्ष्मण को जब यह पता चलता है कि पिता ने बड़े भाई को वनवास दिया है तो पिता के प्रति अपनी श्रद्धा नहीं रख पाते। वे कहते हैं कि महाराज इस समय स्त्री के वश में हो गए हैं इसलिए उनकी प्रकृति विपरीत हो गई है। वे बूढ़े हो गये हैं और विषयों ने उन्हें वश में कर लिया है। वे श्रीराम को सम्बोधित करके कहते हैं कि आपके पास रहकर मैं आपकी रक्षा करता हूँ और आप मेरी सहायता से राज्य शासन की बागडोर अपने हाथों में ले लीजिये। इस स्थिति में यदि अयोध्यावासी आपका विरोध करते हैं तो उन्हें भी मैं अपने तीखे बाणों से उत्तर दूँगा और अयोध्या को सूनी कर दूँगा। लक्ष्मण इस सन्दर्भ में एक सिद्धान्त देते हैं कि कोई भी वृद्ध व्यक्ति यदि घमण्ड में आकर अपने कर्तव्य को भूल जाता है और कुमार्ग पर चलने लगता है तो उसे भी दण्ड देना आवश्यक होता है।[२]

---

१. वा. रा. (अयो.) २४/१३

२. यावदेव न जानाति कश्चिदर्थमिमं नरः ।
तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम् ।।
निमनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ ।
करिष्यामि शरै स्त्रीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये ।।
गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्ये भवति शासनम् ।। वही (अयो.) २१/८,१०,१३

भरत भी राम की प्रवृत्ति का अनुकरण करने वाले दिखते हैं। राम जब वन चले जाते हैं और पिता का स्वर्गवास हो जाता है तब वे अपने ननिहाल से लौटते हैं। उन्हें जब यह पता चलता है कि श्रीराम का वनवास हो गया तथा उनके पिता स्वर्गवासी हो गये और इसमें उनकी माता हेतु हैं जिन्होंने उन्हीं के लिये राज्य की याचना की तब ऐसी स्थिति में वे अपनी माँ कैकेयी से रुष्ट होते हैं और पिताने जिस रूप में श्रीराम को उत्तराधिकारी बनाया था उसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। वे कैकेयी को सम्बोधित कर कहते हैं कि जिस राज्य की कामना तूने मेरे लिये की है उस कामना को मैं पूरा नहीं होने दूँगा। वे कहते हैं कि इस कुल की परम्परा यही है जिसमें यह नियम रहा है कि राजकुमारों में जो ज्येष्ठ होता था उसी का राजा के पद पर अभिषेक किया जाता था। यह नियम केवल हमारी परम्परा में नहीं रहा अपितु सभी राजाओं के यहाँ इसीप्रकार की परम्परा का पालन होता रहा है और जो भी ज्येष्ठ होता था उसका राज्याभिषेक किया जाता था। इच्छवाकु वंशीय राजाओं की परम्परा तो यह रही है कि उन्होंने नीति का और धर्म का सदा पालन किया है इसलिये तुझे इस प्रकार का आचरण नहीं करना चाहिए था। राम ज्येष्ठ हैं इसलिये उन्हें राजा के पद पर अभिषिक्त होना चाहिए था।[१]

१. अथवा मे भवेच्छक्तिर्योगैर्बुद्धिबलेन वा ।
सकामां न करिष्यामि त्वामहं पुत्रगर्द्धिनीम ।।
अस्मिन् कुले हि सर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ।
अपरे भ्रातरस्तस्मिन् प्रवर्तन्ते समाहिता: ।। वा. रा. ७३/१७,२०,२२

पुत्रियों के रूप में सीता, उर्मिला, श्रुतिकीर्ति आदि का सङ्केत वाल्मीकि रामायण में प्राप्त हुआ है। ये जनक की पुत्रियाँ थीं और पुत्री के रूप में इन्होंने सदा अपने पिता की इच्छा के अनुरूप कार्य किया। श्री दशरथ के पुत्रों के साथ जब सीता का, उर्मिला का, माण्डवी का और श्रुतिकीर्ति का विवाह हुआ तो इन कन्याओं ने अपने पिता की इच्छा के अनुकूल ही अपना पाणिग्रहण संस्कार कराया। यही पुत्रियों का स्वरूप है।[१]

गुरु-शिष्य

जहाँ तक इस महाकाव्य में गुरु–शिष्य परम्परा की बात है तो उसका स्वरूप भी राम के व्यवहार में देखा जा सकता है। जब महाराज दशरथ ने महर्षि विश्वामित्र के साथ श्रीराम को वन जाने का आदेश किया तो श्रीराम ने कहा था कि हे कुशिकनन्दन! मेरे पिता ने मुझे यह उपदेश दिया था कि तुम पिता के वचनों का गौरव रखते हुये अपने गुरु कुशिकनन्दन की आज्ञा का पालन करना। आप मेरे आचार्य हैं इसलिये मैं आपकी आज्ञा पालन करने के लिये तत्पर हूँ।[२] इस रूप में जहाँ श्रीराम ने योग्य शिष्य के रूप में अपने गुरु के गौरव की रक्षा की थी वहीं महाराज दशरथ के गुरु वशिष्ठ ने महाराज दशरथ को नीति मार्ग का उपदेश किया था। राम के मोह में पड़कर जब राजा दशरथ ने यह चाहा था कि विश्वामित्र राम की याचना न करें तब महाराज वशिष्ठ ने अपने शिष्य दशरथ को नीति मार्ग का उपदेश देते हुये कहा था कि आपको अपने वचनों का पालन सदा करना चाहिए। श्रीराम और विश्वामित्र साक्षात् धर्म की

१. वा. रा. (बाल.) ७३/२५–३३

२. वही, (बाल.) २६/३–५

मूर्ति हैं, ये बलवानों में श्रेष्ठ हैं, विद्या के द्वारा संस्कार में अग्रणी हैं और तपस्या के भण्डार हैं।[1]

एक अन्य स्थान पर गुरु और आचार्य का परिचय तब मिलता है जब महाराज जनक और उनके गुरु सतानन्द का व्यवहार दिखायी देता है। जब राजा जनक ने अपनी पुत्री का विवाह करने के लिये यह प्रतिज्ञा की थी कि जो शिव के धनुष को भड्ग करेगा वह सीता के साथ विवाह करेगा और बाद में जब श्रीराम ने धनुष तोड़ा और उनके विवाह का समय आया तब जनक के गुरु सतानन्द जी ने धर्म के अनुकूल श्रीराम और उनके भाईयों का विवाह कराया। इस रूप में जिन गुरुओं और शिष्यों की परम्परा का सड्केत है उसमें जहाँ एक ओर गुरुजन अपने कर्तव्यों का पालन करते थे वहीं दूसरी ओर शिष्य भी गुरु का आदर कर शिष्य धर्म का पालन करते हुये अपना समय व्यतीत करते थे।

अपनी कार्य सिद्धि के लिये विशेष प्रकार के आयोजन करना और अपने इष्ट तथा गुरु के रूप में देवों का वरण करना राक्षसों में भी होता रहा है। जैसे कि एक स्थान पर यह सड्केत है कि रावण ने अपनी कार्य–सिद्धि के लिये भगवान् शड्कर की पूजा की थी। वह एक बार एक पर्वत क्षेत्र में पहुँचा और वहाँ उसने विन्ध्य पर्वत की गगन चुम्बी श्रेणियों को देखा, वहाँ उसने मड्गलकारिणी नर्मदा का स्नान किया और मन में यह विचार किया कि आज वह नर्मदा तट पर भगवान् शड्कर को फूलों का उपहार अर्पित करेगा। स्नान करने के बाद उसने शिव को पुष्पों का हार अर्पित किया। इस रूप में वह शिव भक्त था और अपनी

१. एषविग्रहवानूधर्म एषवीर्यवतां वरः ।
एष विद्याधिकोलोकेतपसश्च परायणम् ।। वा. रा. (बाल.) २१/१०

इसी शिव भक्ति के माध्यम से हैहयराज को पराजित किया था। इसी रूप में हम स्वयं महर्षि वाल्मीकि का स्वरूप भी देखते हैं जिसमें वे भगवती सीता के वन में आने पर न केवल उसका पालन–पोषण करते हैं अपितु सीता के पुत्रों को चरित्रवान् बनाकर रघुवंश को यशस्वी बनाते हैं। आचार्य वाल्मीकि सीता को दोष मुक्त करने में सहयोगी होते हैं। तत्कालीन समय में ऋषियों का अथवा गुरुओं और शिष्यों का यह ऐसा स्वरूप था जो उनके श्रेष्ठ स्वरूप का प्रतिपादन करता था।

अतिथि

भारतीय परम्परा में अतिथियों का महत्त्व भी पर्याप्त मात्रा में निरूपित किया गया है। सर्वप्रथम हम महाराज दशरथ के दरबार में उपस्थित हुये ऋषि विश्वामित्र को देखते हैं जो एक विशेष उद्देश्य को लेकर राजा के दरबार में उपस्थित हुये हैं। विश्वामित्र राक्षसों के उपद्रव से पीड़ित हैं और वे यह चाहते हैं कि श्रीराम उनके साथ चलें, राक्षसों का सड्घार करें और ऋषियों की रक्षा करें। महाराज दशरथ ऋषि के उपस्थित होने पर विधिपूर्वक उनका स्वागत करते हैं और यह कहते हैं कि महाराज! यह मेरा अहोभाग्य है कि आप यहाँ पर पधारे। आपकी उपस्थिति मेरे लिये ऐसी है जैसे किसी मरणधर्मा मनुष्य के लिये अमृत की प्राप्ति हो, निर्जल प्रदेश में जल की वर्षा हो, किसी सन्तानहीन को अपनी पत्नी से पुत्र की प्राप्ति हो जाये उसी तरह से आपका यहाँ आगमन हुआ है। मैं आपका स्वागत करता हूँ। यही नहीं उन्होंने यह कहा था कि आपके मन में जो भी अभीष्ट हो आप आज्ञा करें मैं उसकी पूर्ति करुँगा।[1]

१. इच्छाम्यनुगृहीतोऽहं त्वदर्थे परिवृद्धये ।
कार्यस्य न विमर्शं च गन्तुमर्हसि सुव्रत ।। वा. रा. (बाल.) १८/५७

इसीप्रकार से जब महाराज जनक के दरबार में अतिथि के रूप में विश्वामित्र राम और लक्ष्मण के साथ राजा जनक के यहाँ पहुँचते हैं तो जनक भी इनका स्वागत करते हैं। महर्षि के पहुँचने पर जनक कहते हैं भगवन् आपका स्वागत है, आप मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं आपकी प्रसन्नता के लिये कार्य करुँ। यह कहकर वे विश्वामित्र की आज्ञा के पालन में पूरी तरह तत्पर दिखते हैं और इस रूप में वे अतिथि पालन की परम्परा का अनुमोदन करते हैं।[१]

(स) वैयक्तिक नीति एवम् आचार

वाल्मीकि रामायण एक सामान्य काव्य नहीं है क्योंकि इस महाकाव्य में श्रीराम को जिस विशेष नायक के रूप में निरूपित किया गया है उस दृष्टि से यह एक विलक्षण ग्रन्थ बन गया है। श्रीराम और उनका आदर्श—व्यवहार इस दृष्टि से अनुकरणीय औ उदाहरणीय है क्योंकि व्यक्ति के वैशिष्ट्य से समाज भी विशिष्ट बनता है। महर्षि वाल्मीकि का नायक के रूप में श्रीराम को स्थापित करने का उद्देश्य यही है कि उनके वैयक्तिक चरित्र से समाज प्रेरणा प्राप्त कर सके और व्यक्तिगत चरित्र का महत्त्व समझकर उसका अनुकरण करता हुआ एक विशेष प्रकार का समाज बन सके। इस दृष्टि को सार्थक करते हुये श्रीराम के चरित्र में उन गुणों का समावेश किया गया है जो गुण व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में स्थापित करते हैं और जिन गुणों से व्यक्ति समाज को दिशा देने में सक्षम होता है। श्रीराम में ये सभी विशेषतायें हैं जिनसे वे न केवल वैयक्तिक गुणों से मण्डित हैं अपितु समाज के सामने भी वे एक आदर्श नायक के रूप में स्थापित हैं। इसलिये व्यक्ति के वैयक्तिक गुणों का उत्कर्ष स्थान—स्थान पर वाल्मीकि रामायण में दिखाया गया है।

---

१. भगवन् स्वागतं तेऽस्तु किं करोमि तवानध।

भवानाज्ञापयतु माज्ञाप्यो भवता ह्यहम् ।। वा. रा. (बाल.) ६६/३

(द) लोक व्यवहार के सूत्र, करुणा, मैत्री आदि

लोक जीवन मनुष्य के उन गुणों से सञ्चालित होता है जो गुण मनुष्य में मनुष्यता का आधान करते हैं। करुणा और मित्रता ऐसे गुण हैं जो किसी भी व्यक्ति को विशिष्ट बनाते हैं और जिन गुणों से मनुष्य का समाज श्रेष्ठ मनुष्य के रूप में स्थापित होता है। श्रीराम और सीता में करुणा के भाव को देखा जा सकता है। अपने वनवास के समय में जब श्रीराम अरण्य में राक्षसों द्वारा किये गये अमानवीय व्यवहार को देखते हैं और ऋषियों की पीड़ा का अुनभव करते हैं तो वे दु:खी हो जाते हैं। इसलिये जब दण्डकारण्य के ऋषि श्रीराम से अपनी रक्षा की प्रार्थना करते हैं और यह कहते हैं कि राक्षसों के अत्याचार से आप हमारी रक्षा कीजिये तो श्रीराम उनसे कहते हैं कि आप अपनी रक्षा के लिये हमसे प्रार्थना न कीजिये। हम आपके सेवक हैं हमारा यह कर्तव्य है कि जो भी पीड़ित और दु:खी हो हम उनकी रक्षा करें और तपस्वियों की आज्ञा का पालन करें। श्रीराम कहते हैं कि मैं पिता की इसी आज्ञा के पालन के लिये वन आया हूँ जिसमें उन्होंने कहा था कि मैं राक्षसों द्वारा सताये गये ऋषियों की रक्षा करुँ। आपकी सेवा का अवसर पाकर मुझे प्रसन्नता है और मैं भयानक राक्षसों से आपकी रक्षा करूँगा।

---

१. नैवमर्हथ मां वक्तुमाज्ञाप्योऽहं तपस्विनाम् ।
केवलेन स्वकार्येण प्रवेष्टव्यं वन मया ।।
विप्रकारमपाक्रष्टुं राक्षसैर्भवतामिमम् ।
पितस्तु निर्देशकर: प्रविष्टोऽहमिदं वनम् ।।
तपस्विनां रणे शत्रून् हन्तुमिच्छामि राक्षसान् ।
पश्यन्तु वीर्यमृषय: सभ्रातुर्मे तपोधना: ।। वा. रा. (अरण्य.) ६/२२,२३,२५

अपने करुणा के भाव से जहाँ श्रीराम ऋषियों की रक्षा के लिये शस्त्र धारण कर राक्षसों का विनाश करने के लिये तैयार होते हैं वहीं भगवती सीता के मन में भी करुणा के भाव को देखा जा सकता है। वे तो यहाँ तक कहतीं हैं कि बिना किसी अपराध के राक्षसों का वध भी नहीं किया जाना चाहिए। उनका यह कहना है कि क्षत्रियों के द्वारा धनुष धारण करने का केवल इतना ही अभिप्राय है कि वे सङ्कट में पड़े हुये प्राणियों की रक्षा करें। इसलिये आप इस वन में रहते हुये क्षत्रिय का कठोर हिंसा का धर्म त्यागकर मुनिवृत्ति का पालन कीजिए। इसलिये हम वन में रहते हुये अब से यहाँ के प्राणियों पर दया करेंगे और कठोरता का व्यवहार नहीं करेंगे।[1]

मैत्री का भाव भी श्रीराम के चरित्र में दृढ़ता के भाव के रूप में देखा जा सकता है। अरण्य में भ्रमण करते हुए जब वे किष्किन्धा पहुँचते हैं और श्री हनुमान् जी की मध्यस्थता से सुग्रीव से मित्रता करते हैं, तो उनकी यह मित्रता पूर्णता को प्राप्त करती है। जब भी सुग्रीव ने श्रीराम से मित्रता की याचना की तो श्रीराम ने प्रसन्नता से उसकी यह याचना स्वीकार की और अग्नि को साक्षी बनाकर मित्रता स्थापित की।[2]

....

१. क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च ।
व्याविद्धमिदमस्याभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ।।
कदर्थकलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात् ।
पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षत्रधर्मे चरिष्यसि ।। वा. रा. (अरण्य.) ९/२७—२८

२. ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रुतश्च प्रदक्षिणम् ।
सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ ।। वही, (कि. ५/१५)

इसी तरह से अपने अग्रज रावण से तिरस्कृत होकर जब विभीषण श्रीराम के पास पहुँचा तो श्रीराम ने अपने सभी साथियों के साथ यह विचार किया कि इसे आश्रय देना चाहिए अथवा नहीं और इसकी मित्रता स्वीकार करना चाहिए अथवा इसकी मित्रता को अस्वीकार कर देना चाहिए। इस पर यह निश्चय हुआ कि इसे अपना मित्र बना लेना चाहिए। तब श्रीराम ने कहा था कि अब यह यहाँ रहे और हमारे जैसा होकर हमारी मित्रता प्राप्त करे।[१] श्रीराम ने सुग्रीव और विभीषण आदि ने इन मित्रता के सम्बन्धों का पूरी तरह से निर्वाह किया।

अवगुण-हठ, ईर्ष्या, क्रोधादि

कैकेयी ने मन्थरा के द्वारा सिखाये जाने पर महाराज दशरथ से दो वर माँगे। इस पर राजा ने प्रथम वर देने की बात स्वीकार की और भरत को राज्य देने के लिये तैयार हो गये। इस पर कैकेयी सहमत नहीं हुई। तब महाराज दशरथ ने कहा मैं राम को वन नहीं दे सकता तुम भरत के लिये राज्य प्राप्त करो। इस पर कैकेयी हठ करने लगी और कहने लगी कि यदि आपने अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं किया तो मैं आपसे उपेक्षित होकर यहीं आपके सामने अपने प्राणों का बलिदान कर दूँगी।[२]

१. तस्मात् क्षिप्रं सहास्माभिस्तुल्यो भवतु राघव ।
विभीषणो महाप्राज्ञः सखित्वं चाम्युपैतु न ।। वा.रा. (युद्ध.) १८/३८

२. समयं च मयार्थेमं यदि त्वं न करिष्यसि ।
अग्रतस्ते परित्यक्ता परित्यक्ष्यामि जीवितम् ।। वा. रा. (अयो.) १४/१०

दशरथ ने अनेक ऐसी बातें कहीं जिनसे वे कैकेयी को उसके द्वारा माँगे गये वर से विमुख करना चाहते थे किन्तु कैकेयी की हठ के सामने राजा दशरथ की एक भी बात नहीं चली। राजा ने जितना भी चाहा कि कैकेयी राम को वनवास देने से विरत हो जाये कैकेयी ने उतनी ही दृढ़ता से राम को वन देने का आग्रह किया और यह कहा कि मेरे सामने आप राम को बुलाइये और उन्हें वन जाने की आज्ञा दीजिए। इस स्थिति में ही आप कृतकृत्यता का अनुभव कर सकेंगे।[१]

जिस तरह का हठ अपने कार्य की सिद्धि के लिये कैकेयी में देखने को मिलती है उसी तरह का हठ रावण के व्यवहार में भी दिखायी देता है। रावण को अनेक लोग यह समझाते हैं कि वह श्रीराम के साथ युद्ध न करे और सीता को वापस कर दे। सबसे पहले हनुमान् जी रावण से कहते हैं कि सीता तुम्हारे लिये प्राप्त होना सम्भव नहीं है। सीता को तुम अपने लिये कालरात्रि के समान मानो और यह समझो कि वह तुम्हारे लिये तुम्हारे गले की फांसी है इसलिये उससे बचने का प्रयत्न करो; किन्तु रावण ने राम के साथ युद्ध का परित्याग करना उचित नहीं समझा।[२]

इसके बाद रावण को समझाने का प्रयत्न विभीषण ने किया। उन्होंने कहा कि कुम्भकरण, इन्द्रजित, निकुम्भ कोई भी ऐसा नहीं है जो राम के साथ युद्ध में ठहर सके किन्तु रावण ने विभीषण की बात को भी स्वीकार नहीं किया और सीता को वापस करने की बात नहीं मानी। इसके विपरीत उसने विभीषण का परित्याग कर दिया।[३]

---

१. किमिदं भाषसे राजन् वाक्यं गररुजोपमम् ।
अनार्यायतुमक्लिष्टं पुत्र सममिहार्हसि ।।
स्थाप्य राज्ये मम सुतं कृत्वा रामं वनेचरम् ।
नि सपन्नां च मां कृत्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ।। वा. रा. (अयो.) १४/२१–२२

२. वही, (सुन्दर) ५१/३४–३५

३. वही, (युद्ध) १४/६; वही, (युद्ध) १६वां सर्ग

इसी तरह से हम स्त्रीजन्य स्वभाव की ईर्ष्या का स्वरूप अयोध्या के राजमहल में देख सकते हैं। हम वहाँ पर यह देखते हैं कि जहाँ एक ओर महाराज दशरथ की तीन रानियाँ दशरथ के द्वारा किये गये व्यवहार से छुभित हैं वहीं पर मन्थरा नाम की एक ऐसी दासी है जो अपनी स्वामिनी कैकेयी को प्रसन्न करना चाहती है और कौशल्या से ईर्ष्या करती है। मन्थरा कैकेयी को भरत के लिये राज्य माँगने की सलाह देती है और राम के वनवास का आयोजन करती है। वह यह कहती है कि कौशल्या के पुत्र राम यदि राज्य प्राप्त कर लेंगे तो तुम्हारे पुत्र भरत का क्या होगा और कौशल्या से जो तुम्हें पराभव प्राप्त होगा वह भी तुम्हारे लिये कष्ट का हेतु बनेगा। इसलिये तुम्हें भरत के लिये राज्य माँगना चाहिये। वह कहती है कि पहले तुमने अपने सौन्दर्य के घमण्ड से कौशल्या का अनादर किया था। अब, जब उनका पुत्र राज्य का अधिकारी बनेगा तब भला क्यों उनकी माता तुमसे बदला नहीं लेगी।[१] यह स्त्रियों के परस्पर ईर्ष्या का ही स्वभाव है जो अयोध्या के राजभवन में दिखायी देता है। एक दूसरे स्थान पर कौशल्या भी यह स्वीकार करती हैं कि उनके साथ राजा का व्यवहार उचित नहीं रहा और इसीलिये वे कैकेयी तथा पति से तिरस्कृत रही हैं।[२]

---

१. यदा च रामः पृथिवीमवाप्स्यते
प्रभूतरक्षाकरशैलसंयुताम् ।
तदा गमिष्यस्यशुभं पराभवं
सहैव दीना भरतेन भामिनि ।। वा. रा. (अयो.) ८/३८

२. त्वपि संनिहितेऽप्येवमहमासं निराकृता।
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव हि।।
अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमसभ्यता ।
परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवावरा ।। वा. रा. (अयो.) २०/४१–४२

क्रोध की अनेकों मन: स्थितियाँ वाल्मीकि रामायण में देखने को मिलती हैं। कैकेयी द्वारा वर मांगे जाने के पश्चात् जब दशरथ कैकेयी को समझाने में असमर्थ रहते हैं तो वे क्रोधित होकर कैकेयी से कहते हैं कि मुझे यह ज्ञात होता है कि मैंने अपने विनाश के लिये ही सम्भवत: तुझे अपने घर में रखा था। मैं यह नहीं जानता था कि राजकन्या के रूप में तुम तीखे दाँत वाली नागिन हो।[१] इसी तरह से राजा दशरथ ने कैकेयी को सम्बोधित करके कहा था कि तू जब मेरे साथ ऐसा व्यवहार कर रही है तो तेरे साथ भला परिवारके लोग कैसा व्यवहार करेंगे। तू दुराग्रह पूर्वक ऐसा कठोर वचन बोल रही है तो तेरे मुख से भला तेरे दाँत टूटकर मुँह से नीचे क्यों नहीं गिर जाते।[२] श्रीराम ने जब सूर्पणखा के नाक–कान काटे थे तो उसने परिवारीजन खर के पास दुर्अवस्था का वर्णन किया था। उस स्थिति में खर ने क्रोध के आवेश में भरकर अपने सैनिकों को यह आदेश दिया था कि जिन्होंने मेरी बहिन की यह अवस्था की है तुम जाकर उन दोनों पुरुषों को मार डालो और उनके साथ जो स्त्री है उसके भी प्राणों का हरण कर लो।[३] श्रीराम और बालि के युद्ध में बालि को ऐसा अनुभव हुआ था जैसे राम ने उसके साथ अन्याय किया हो इसलिये बालि ने क्रोधपूर्वक राम से कहा, साधु जैसे पुरुषों का वेश धारण करके मुझे मारा है जबकि आपके और हमारे बीच में किसी तरह का बैर नहीं है। पृथिवी, सोना और चाँदी यही बैर के साधन होते हैं हमारे बीच में यह भी हेतु नहीं हैं। आपने स्वेच्छानुसार यह कर्म किया जिसका उत्तर आपके पास नहीं है।[४]

---

१. वा. रा. (अयो.) १२/९

२. वही, १२/१०७

३. वही, (अरण्य) १९/२३

४. न तेऽस्त्यपचितिर्धर्मे नार्थे बुद्धिरवस्थिता ।
इन्द्रियैः कामवृत्तः सन् कृष्णसे मनुजेश्वर ।।
हत्वा बाणेन काकुत्स्थ मामिहानपराधिनम् ।
किं वक्ष्यसि सतां मध्ये कर्म कृत्वा जुगुप्सितम् ।। वा. रा. (किष्किन्धा) १७/३४–३५

इसीप्रकार से युद्ध के समय श्री हनुमान्, इन्द्रजित, कुम्भकरण, राम और रावण अनेकों बार क्रोध करते हैं और क्रोधित होकर अपने–अपने शत्रुओं पर अस्त्र–शस्त्र का प्रहार करते हैं। उत्तरकाण्ड में एक कथा इन्द्र के द्वारा वृत्तासुर के वध की आती है जिसमें इन्द्र अपने प्रलयकारी वज्र से वृत्तासुर का वध करते हैं। उस समय वे अग्नि के समान भयंकर दीप्तिमान् थे और उन्होंने एक ही क्षण में वृत्तासुर के मस्तक को खण्डित कर दिया था।[१]

शरीर, मन, आत्मादि की मान्यता

वाल्मीकि रामायण में यद्यपि दार्शिनिक दृष्टि से तत्त्व–विचार नहीं किया गया है तथापि सङ्केत में शरीर का महत्त्व और उसका नैतिक स्वरूप तथा आत्मादि की मुक्ति के विषय में सङ्केत अवश्य किया गया है। जैसे कि इस महाकाव्य के प्रारम्भ में आने वाले कलियुग की स्थिति की गंभीरता का कथन करते हुए यह कहा गया है कि ऐसा समय आयेगा जब कि उत्तम कुल की स्त्रियाँ ओछी बातें करने वाली होंगी। कठोर और असत्य भाषण करेंगी। शरीर को शुद्ध और संस्कृत बनाए रखने वाले गुणों से वंचित होंगी।[२] यहाँ पर शरीर का जिस रूप में सङ्केत है, उसके अनुसार यह माना गया कि सद्गुण ऐसे होते हैं जो शरीर को शुद्ध और संस्कृत बनाते हैं।

१. कालाग्निनेवघोरेण दीप्तेनेव महार्चिसः ।
पततः वृत्तशिरः जगत् त्रासमुपागमत् ।। वा. रा. (उत्तर) ८५/१४

२. असद् वार्ता भविष्यन्ति पुरुषेषु कुलाङ्नाः।
परुषानृतभाषिण्यो देहसंस्कारवर्जिताः ।। वही, (मा.) १/१०; वही, (बाल.) ५८/११

इसी प्रकार से वहाँ पर अन्त:करण के शुद्ध और अशुद्ध होने की स्थिति का कथन भी है। कहा यह गया है कि जब घोर कलियुग आवेगा तो परप परायण रहने पर जिनका मन शुद्ध नहीं होगा, उनकी मुक्ति भला कैसे हो सकेगी?[१] यहाँ मन को मुक्ति प्राप्ति में सहायक बताया गया है।

शरीर और मन की स्थिति का एक कथन इस रूप में है जिसमें यह माना गया है कि कर्म में निम्नता आने पर और किसी श्रेष्ठ ऋषि के द्वारा श्राप आदि दिए जाने पर शरीर परिवर्तित हो जाता है और फिर जैसा शरीर होता है, शरीरधारी वैसा ही कर्म करने लगता है। सौदास नाम के एक शिव आराधक की घटना इस सन्दर्भ में दी गई है और यह कहा गया है कि उसने एक बार अपने गुरु को प्रणाम नहीं किया था, इसलिए वह श्राप पाकर राक्षस हो गया था। राक्षस होने पर वह इतना अधम कर्मी बन गया था कि उसने वन में भ्रमण करते हुए करोड़ों राक्षसों का भक्षणकर लिया था। उसने इतने अधिक जीव–जन्तुओं का भक्षण किया था कि पूरा का पूरा वन हड्डियों से भरा हुआ दिखाई देता था।[२]

१. घोरे कलियुगे ब्रह्मन जनानां पापकर्मिणाम् ।
मन: शुद्धिविहीनानां निष्कृतिश्च कथं भवेत् ।। वा. रा. (मा.) १/१४

२. अस्थिभिर्बहुभिर्विप्रा: पीतरक्तकलेवरै: ।
रक्तादप्रेतकैश्चैव तेनासीद् भूर्मयंकारी ।।
नामस्मरणमात्रेण राक्षसा अपि दूरगा: ।
मया प्रभक्षिता: पूर्व विप्रा: कोटिसहस्र: ।। वा. रा. (मा.) २/४५, ५३

जहाँ तक आत्मकल्याण की स्थिति का प्रश्न है तो इस सन्दर्भ में एक वर्णन तो इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि श्रीराम के स्मरण से और उनकी कथा के श्रवण से परम कल्याण की प्राप्ति होती है। जब सौदास के शरीर से राक्षस हुए शिव भक्त को गर्ग मुनि ने कथा सुनाई थी, तब कथा सुनते ही उसका राक्षसत्व दूर हो गया था। वह देवों के समान सुन्दर, करोड़ों सूर्यों के समान तेजस्वी, नारायण के समान कान्तिमान् होकर अपने चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा, पदम्धारण करके बैकुण्ठधाम में चला गया था। इस प्रकार से वह गर्ग मुनि की प्रशंसा करता हुआ भगवान् के उत्तमधाम को प्राप्त हुआ।[१]

एक दूसरे स्थान पर श्रीरामकथा का महत्त्व बताते हुए यह कहा गया है कि जो ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु नामक भिन्न–भिन्न रूप धारण कर विश्व की सृष्टि, संहार और पालन करते हैं, उन आदिदेव परमोत्कृष्ट परमात्मा रामचन्द्र जी को अपने हृदय मन्दिर में स्थापित कर मनुष्य मोक्ष का भागीदार होता है।[२]

---

१. कथाश्रवणमात्रेण राक्षसत्वमपाकृतम् ।
विसृज्य राक्षसं भावभवद् देवतोपमः ।
कोटिसूर्यप्रतीकाशो नारायण समप्रभः ।
शंखचक्रगदापाणिर्हरिः सद्म जगाम सः ।
स्तुवन् तं ब्राह्मणं सम्यग् जगाम हरिमन्दिरम् ।।
वा.रा. (मा.) २/६७–६९; वही (अर.) ६८/२९–३०

२. ब्रह्मेविष्ण्वारव्यशरीरभेदै
र्विश्वं सृजत्यन्ति च पाति यश्च ।
तमादिदेवं परमं वरेण्यमा–
धाय चेतस्युपयाति मुक्तिम् ।। वही १/२९

इसी क्रम में मुक्ति प्राप्त करने के लिए एक दूसरे साधन का कथन उसी प्रकार से किया गया है जैसा कथन अद्वैत वेदान्त में कहा जाता है। वहाँ पर यह निरूपण है कि जो नाम तथा जाति आदि विकल्पों से रहित है, कार्य कारण से परे है, सर्वोत्कृष्ट है और वेदान्तशास्त्र द्वारा जानने योग्य है तथा अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होने वाला है और जिसका साक्षात्कार वेदों और पुराणों के अध्ययन से होता हैं उसकी प्राप्ति इस कथा से होती है।[1]

इस रूप में जहाँ शरीर को सभी साधन करने का मूल आधार माना गया है, वहीं पर मन की शुद्धि और ईश्वर के आराधन को भी महत्त्व दिया गया है। आत्म कल्याण ईश्वर–प्राप्ति में परम धाम गमन में और मुक्ति प्राप्त करने में दिखाया गया है जो जीवन का सर्वोत्तम नैतिक मार्ग है।

---

१. यो नाम जात्यादि विकल्पहीनः
परावराणां परमः परः स्यात् ।
वेदान्तवेद्यः स्वरुचः प्रकाशः
स वीक्ष्यते सर्वपुराणवेदैः ।। वा.रा. (मा.) १/३०

चतुर्थ अध्याय

(राजनीति एवम् अर्थनीति)

चतुर्थ अध्याय

(राजनीति एवम् अर्थनीति)

वाल्मीकि रामायण में प्राचीन राजवंशों का वर्णन विस्तार से प्राप्त होता है। वहाँ पर उस स्थिति से बचने का प्रयत्न स्पष्ट रूप से दिखायी देता है जिसमें यह चाहा गया है कि राज्य अराजक स्थिति से बचे और कोई भी स्थिति ऐसी न हो जिसमें प्रजा कष्ट का अनुभव करे इसीलिये यह वर्णन है कि जब कहीं पर राजा नहीं होता है तो वह देश नष्ट हो जाता है। राजा के न रहने पर मेघ भी उस क्षेत्र में भली–भाँति वर्षा नहीं करते और पृथिवी को दिव्य जल की प्राप्ति नहीं होती। जहाँ कोई राजा नहीं होता वहाँ पर पृथिवी में बीज भी नहीं बिखेरे जाते हैं और राजाहीन राज्य में पुत्र पिता के वश में नहीं रहता। पत्नी न तो पति का अनुसरण करती है और न ही उसे किसी रूप में महत्त्व देती है। जो देश राजा से हीन होते हैं उस देश की अपनी कोई सम्पत्ति नहीं होती और न ही राज रहित देश में निर्भयता पूर्वक रहा जा सकता है। बिना राजा के राज्य में न कोई पंचायत भवन बनते हैं और न ही राजा रहित देश में किसी प्रकार के उद्यानों का निर्माण होता है। राजा रहित जनपद में यज्ञ प्रारम्भ भी किया तो यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों को उचित रीति से दक्षिणा नहीं दी जाती। वाल्मीकि रामायण में राजारहित देश के लिये यह कहा गया है कि जिस प्रकार जल के बिना नदियाँ, घास के बिना वन और ग्वालों के बिना गऊयें शोभा नहीं देतीं उसी तरह से राजा के बिना राज्य में किसी प्रकार की शोभा नहीं रहती।[१]

---

१. नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते ।
नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशी।।
यथा ह्युनदकःनद्यो: यथा वात्यत्रणं वनम् ।
अगोपाला यथागावास् तथा राष्ट्रमराजकम्।। वा.रा. (अयो.) ६७/९–२९

राजा की परिकल्पना कैसे हुयी और प्रारम्भ में किस प्रकार राजा राज्य करने लगे इसका सङ्केत वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड में किया गया है जिसमें यह कल्पना की गयी है कि पहले समय में पृथ्वी पर कोई भी राजा नहीं थे बाद में इन्द्र देवताओं के राजा चुने गये और तब सभी लोगों ने मिलकर इन्द्र राजा से यह प्रार्थना की कि महाराज! हमारे लिये भी किसी श्रेष्ठ पुरुष को राजा बना दें क्योंकि बिना राजा के हम नहीं रहेंगे। इसी क्रम में बाद में ब्रह्मा जी के द्वारा उत्पन्न हुआ क्षुप नाम का एक राजा पैदा हुआ। तब से पृथ्वी पर राजा की परिकल्पना प्रारम्भ हुयी।[१]

राजा के राज्य सम्बन्धी इस विवरण में सत्यता कितनी है और कल्पना कितनी है यह कहना सम्भव तो नहीं है किन्तु यह अवश्य है कि राजा देवताओं का अंश होता था और वह सभी के लिये पूज्य भी होता था। जब सभी लोग राजा की आकांक्षा से ब्रह्मा के पास गये थे तो वहाँ जाकर उन सभी लोगों ने यही कहा था कि महाराज! हमें एक ऐसा श्रेष्ठ पुरुष दीजिये जिसकी पूजा करके हम पाप रहित भूतल पर रह सकें।[२]

राजा के विषय में यह भी सङ्केत था कि वह प्रजा से उसके द्वारा प्राप्त सम्पत्ति का छठवाँ भाग प्राप्त करे और उसके बदले में वह प्रजा की पूरी तरह से रक्षा करे।[३] इस प्रकार का सङ्केत कालिदास ने भी अपने अभिज्ञान शाकुन्तलम् में किया है जिसमें उन्होंने यह कहा है कि वन में रहकर जो तपस्वी तप करते हैं उसका छठा भाग वे राजा को देते हैं। इसी तरह से वहाँ पर यह कहा गया है कि राजा सदा उनकी रक्षा करने के दायित्व से बंधा होता है जो निराश्रित होते हैं और रक्षणीय होते हैं। यह ऐसा कर्त्तव्य है कि राजा को इसका पालन अवश्य रूप से करना होता है।[४]

१. वा. रा. (उत्तर) ७६/३७–४४

२. यस्मै पूजां प्रयुञ्जाना धूतपापाश्चरेमहि। वा. रा. (उत्तर) ७६/३९

३. अधीतश्च तपतस्व कर्मणः सुकृतस्य च।
षष्ठं भजति भागं तु प्रजा धर्मेण पालनम् ॥
वही, ७४/३१; म. स्मृ. ७/११४

४. दृष्टव्य– अभिज्ञान शाकुन्तलम् ।

प्राचीन समय में राजा बनाये जाने की जो परम्परा थी उसमे दो बातें होती थीं। एक तथ्य तो यह था कि किसी को भी राज्य परम्परा से प्राप्त होता था। अर्थात् राज्य की प्राप्ति पिता के क्रम से होती थी। दूसरी स्थिति यह थी कि पिता के अनेक पुत्रों में जो ज्येष्ठ पुत्र होता था उसे ही राज्याधिकार प्राप्त था। दशरथ के वंश में इसी परम्परा का निर्वाह किया गया था। जो पिता का ज्येष्ठ पुत्र है उसके लिये यह आवश्यक होता था कि वह क्षत्रिय रानी से उत्पन्न हुआ पुत्र हो और सभी अन्य भाईयों से ज्येठा हो। तभी वह राज्य पाने का अधिकारी होता था। महाराज दशरथ ने श्रीराम को सम्बोधित करते हुये यह कहा था कि बेटा! तुम्हारा जन्म महारानी कौशल्या के गर्भ से हुआ है, तुम अपनी माता के अनुरूप हो और गुणों में मुझसे बढ़कर हो इसलिये पुष्य नक्षत्र के योग में युवराज पद प्राप्त करो।[1] इस नियम का पालन सभी लोग करते थे और सभी यह जानते थे कि जो ज्येष्ठ पुत्र है उसे ही राज्याधिकार दिया जाता है। इसीलिये महाराज दशरथ से सभी ने मिलकर यह कहा था कि जो नीलकमल के समान श्याम कान्ति से सुशोभित तथा समस्त शत्रुओं का संहार करने में सक्षम हैं, आपके उन ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम को हम युवराज पद पर अभिषिक्त देखना चाहते हैं।[2]

जब कैकेयी ने श्री दशरथ से वनवास की याचना की थी तब महाराज दशरथ ने भी यही कहा था कि जो कुल में सबसे बड़ा होता है उसी का राज्याभिषेक होता है उससे कनिष्ठ जो छोटे भाई हैं वे सभी के सभी अपने अनुज की सेवा सावधानी पूर्वक करते हैं। महाराज दशरथ ने कैकेयी से कहा था कि यह राजधर्म है और सनातन से चली आयी यह कुल परम्परा भी है तुझे इसका ज्ञान नहीं है।[3]

---

१. तस्मात् त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवारनुहि: । वा.रा. (अयो.) ३/४१

२. पश्यामो यौवराजयस्थं तव राजोतमात्मजाम् । वही, ३/५३

३. अस्मिन् कुले हि सर्वेसां ज्येष्ठो राज्येऽभिसिच्यते ।
अपरे भ्रातरतस्मिन् प्रवर्तन्ते समाहिता: ।।
न हि मन्ये नृशंसे त्वं राजधर्ममवेक्षसे ।
गतिं वा न विजानासि राजवृत्तस्य शाश्वतीम् ।। वा.रा. (अयो.) ७३/२०—२१

राजकुल में यह परम्परा सनातन क्रम से चली आ रही थी और इसका ज्ञान सभी को था। जब तक कैकेयी को मन्थरा ने विकृत नहीं किया था तब तक वह भी यही चाहती थी कि श्रीराम का राज्याभिषेक होवे। उसने मन्थरा को समझाते हुये यही कहा था कि श्रीराम धर्म के ज्ञाता हैं, गुणवान हैं, जितेन्द्रिय हैं, कृतज्ञ हैं, सत्यवादी हैं तथा वंश में ज्येष्ठ पुत्र हैं इसलिये वे राजा होने योग्य हैं।[१]

जब राम का वनवास हो गया था और वे चित्रकूट में थे तब सभी ने यह चाहा था कि राम अयोध्या लौट चलें और वे राज्य ग्रहण करें। महर्षि वशिष्ठ ने राम से कहा था कि आप इस वंश के ज्येष्ठ पुत्र हैं। इस वंश में यह परम्परा चली आयी है कि जो ज्येष्ठ पुत्र होता है वही राजा के पद पर अभिषिक्त किया जाता है इसलिये आप ज्येठे होने के नाते यह राज्य स्वीकार करें क्योंकि यह आपका अधिकार है और ज्येष्ठ पुत्र के होते हुये कनिष्ठ पुत्र राज्य ग्रहण नहीं कर सकता।[२]

वंश परम्परा में जो ज्येष्ठ होता था उसका राज्याभिषेक केवल श्रेष्ठ राजवंशों में ही विहित नहीं था अपितु तत्कालीन वानर वंशों में और राक्षस वंशों में भी यह परम्परा थी। इसीलिये इस परम्परा का पालन करते हुये बालि की मृत्यु के बाद उसका जो ज्येष्ठ पुत्र था उसे ही राज्य पद पर अभिषिक्त किया गया था। राक्षस वंश में भी यही परम्परा थी और यही कारण था कि रावण के ज्येष्ठ होने पर ही राज्य का कार्यभार दिया गया था। लङ्का में रावण और विभीषण के सम्वाद में यही सङ्केत किया गया है कि जो ज्येष्ठ हो और जो राज्य का कार्य अच्छी तरह से चला रहा हो उसे कुटुम्बीजन कभी भी अपमानित नहीं करते हैं।[३]

---

१. वा. रा. (अयो.) ८/१४

२. तस्य ज्येष्ठोऽसि दावादो राम इत्यभिविश्युतः ।
तद् गृहाणस्वकं राज्यं अवेक्षस्व जगन् नृप ।।
इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः ।
पूर्वजे नावरः पुत्रो ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ।। वा.रा. (अयो.) ११०/३५–३६

३. वही, (युद्ध) १६/४

उस समय राज्य का अधिकार प्राप्त करने के लिये यद्यपि ज्येष्ठ पुत्र को ही समान्य रूप से चुना जाता था किन्तु इसके साथ ही साथ अपने छोटे भई अथवा भाई के पुत्र को भी अभिषिक्त कर दिया जाता था। जैसे कि अयोध्या में श्रीराम के राज्याभिषेक के बाद भरत को युवराज बनाया गया था और इसी तरह से किष्किन्धा काण्ड में यह उल्लेख है कि बालि के बाद सुग्रीव और सुग्रीव के बाद अङ्गद युवराज बने थे।[१]

यद्यपि बहुतायत से ज्येष्ठता के क्रम को राज्याभिषेक में स्वीकार किया गया था किन्तु इसके साथ ही साथ यह आवश्यक होता था कि जिसे युवराज बनना है उसमें कुछ विशेष गुण होवें। इन गुणों की अपेक्षा होती थी कि युवराज पद पर अभिषिक्त होने वाला राजकुमार बलशाली होवे, पराक्रमी होवे, बुद्धिमान् तथा धैर्यवान् होवे। जिस राजकुमार को युवराज पद दिया जा रहा है उसे लोकप्रिय भी होना चाहिए। श्रीराम में ऐसे ही गुण थे जिन गुणों से युक्त वे प्रजा के लिये परम प्रिय थे क्योंकि प्रजा का प्रिय होना युवराज पद के लिये एक महत्त्वपूर्ण शर्त थी।[२]

जब राम को राज्याभिषेक करने का प्रस्ताव हुआ था तो यह देखा गया था कि वे धर्मज्ञ हैं, सत्यप्रतिज्ञ हैं, शीलवान् हैं, किसी का दोष न देखने वाले हैं, दीन–दु:खियों को शान्त्वना प्रदान करने वाले हैं, मृदुभाषी हैं, कृतज्ञ हैं, जितेन्द्रिय हैं, कोमल स्वभाव वाले हैं, स्थिर बुद्धि वाले हैं, सदा दूसरों का कल्याण करने वाले हैं, सत्यवादी हैं और प्रिय वचन बोलने वाले हैं।[३] इसका अभिप्राय यह हुआ कि राज्याभिषेक के लिये इन गुणों का होना आवश्यक था।

१. वा. रा. (युद्ध) १२८/९३; (कि.) ९/२१; २६/३८; (उत्तर) १०८/२३

२. पूर्णचन्द्राननस्याथ शोकापनुदमात्मनः ।
लोकेरामस्यबुबुधेः समप्रियत्वमहात्मनः ।। वही, (अयो.) १/४४

३. वा. रा. (अयो.) २/३१–३२

राज्याभिषेक किये जाने के सम्बन्ध में यह भी कथन है कि कोई राजकुमार यदि इन गुणों से युक्त न हो अथवा माता अथवा पिता के अनुकूल न हो तब सम्भवत: ऐसे युवराज का राज्याभिषेक नहीं किया जाता रहा होगा। कैकेयी ने अपनी इच्छा की पूर्ति न होने पर राम को राज्याभिषेक से वञ्चित कर दिये जाने का अनुरोध महाराज दशरथ से किया था और उसने यह उदाहरण दिया था कि पहले भी ऐसा हो चुका है। कैकेयी ने कहा था कि राजा सगर ने अपने ज्येष्ठ पुत्र असमञ्ज को निकालकर राज्य का दरवाजा उसके लिये बन्द कर दिया था।[१] श्रीराम के साथ भी यही हुआ क्योंकि यद्यपि वे सर्वगुण सम्पन्न थे किन्तु माता कैकेयी की सहमति न होने पर उन्हें अपना राज्य छोड़ना पड़ा था। राजा बनाने के और भी उपायों का सङ्केत है जिसमें यह भी सम्भव हो सकता था कि ज्येष्ठ पुत्र अपने पिता का वध कर देवे अथवा अपने पिता को कारागार में डाल दे और स्वयं शासक बन जावे।[२] एक सङ्केत ऐसा भी है जिसमें यह कहा गया है कि कहीं पर यदि ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकार न मिले तो उसकी पत्नी को राज्याधिकार दिया जा सकता है। जब सभी ने यह चाहा था कि श्रीराम वन न जायें तो उनके सामने एक प्रस्ताव यह भी रखा गया था कि पत्नियाँ पति का आधा अङ्ग होती हैं। इस प्रकर से सीता श्रीराम की अर्द्धाङ्गिनी हैं इसलिये युवराज पद श्रीराम को नहीं मिल रहा तो उनकी पत्नी सीता को राज्य का भार दिया जा सकता है और वे रानी बनकर राज्य का पालन कर सकती हैं।[३]

१. वा. रा. (अयो.) ३६/१६

२. वही, (अयो.) ३४/२६; २१/१२

३. आत्मा हि दारा: सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम् ।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिस्यतिमेदिनीम् ।। वही, (अयो.) ३७/२४

राज्याभिषेक करने के विधान में इस विधान का सङ्केत वाल्मीकि रामायण में है कि जब कोई राजा अपने ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकारी बनाने का निर्णय कर लेता था तब वह अपने इस निर्णय की पुष्टि अपने सभासदों से भी करा लेता था। राजा की ऐसी सभा में मंत्री, सेनापति; जनपद के प्रधान और ब्राह्मण आदि सम्मिलित रहते थे। राजा अपनी इच्छा को सभी के सामने प्रस्तुत करता था और जब सभी इसका अनुमोदन करते थे तो वह प्रस्ताव स्वीकृत मान लिया जाता था।[१] इसप्रकार की स्थिति का सङ्केत वाल्मीकि रामायण में है जहाँ पर यह कहा गया है कि राजा नृग को जब ब्राह्मणों द्वारा श्राप दिया गया था तो उन्होंने राजपद के लिये अपने पुत्र का प्रस्ताव सभा के मध्य किया था। उस सभा में मन्त्री, पुरोहित, राज्याधिकारी और अन्य नागरिक उपस्थित थे।[२] इस रूप में यह कहना सम्भव है कि तब के समय में जब किसी राजकुमार का राज्याभिषेक होता था तो उसमें किसी न किसी रूप में प्रजा की भागीदारी होती थी। सङ्केत यह होता है कि जब राजा सगर की मृत्यु हुयी थी तो प्रजाजनों ने धर्मात्मा अंशुमान को राजा बनाने की रुचि प्रकट की थी।[३]

तत्कालीन समय में युवराज पद के लिये ज्येष्ठ राजकुमार का चयन राजा के जीवन काल में ही कर लिया जाता था जिससे बाद में उसका राज्याभिषेक कर लिया जाये और राजा का पद रिक्त न रह सके। यदि किसी राजा के जीवन काल में ऐसा नहीं हो पाता था तो उसकी व्यवस्था राज्य कार्यवाह द्वारा कर दी जाती थी।[४]

१. वा. रा. (अयो.) २/१९–२०; २/१५–१६
२. वही. ५४/५–७
३. कालधर्मे गते राम सगरे प्रकृतीजना: ।
राजानं रोचयामासुरंशुमन्तं सुधार्मिकम् ।। वही. (बाल.) ४/२१
४. वही (अयो.) ७९/१

(अ) राजा के गुण-दोष

वाल्मीकि रामायण का युग एक ऐसा युग था जिमसें राजा को बहुत महत्त्व दिया गया था। तब यह कहा गया था कि जो राज्य राजाविहीन होता है अथवा जिस राज्य में कोई शासक नहीं होता है वहाँ शान्ति नहीं होती और आवश्यक रूप से राज्य नष्ट हो जाता है।यही कारण है कि एक स्थान पर यह कहा गया है कि राजा इन्द्र है, राजा कुबेर है और राजा वरुण है क्योंकि राजा में इन सभी की शक्तियाँ निहित होती हैं। पृथक्—पृथक् रूप से यदि देखा जाये तो इन्द्र केवल पालन का कार्य करते हैं, कुबेर धन देते हैं और वरुण सदाचार का नियंत्रण करते हैं तथा यम मृत्यु दण्ड देते हैं किन्तु राजा अकेले ही इन सभी कार्यों को सम्पादित करता है। राजा सत्य और धर्म का प्रवर्तक होता है, वह प्रजा पर शासन करता है, जो निराश्रित हैं उनको आश्रय देता है और स्वयं के सामर्थ्य से दुष्टों को दण्ड देता है। इसलिये इसमें सभी देवता निवास करते हैं अथवा यह सभी देवों से बढ़कर है।[१] इस रूप में रामायणकार की यह मान्यता है कि राजा एक विशिष्ट पद है और राजा ऐसा होता है जो शरीर की दृष्टि की भाँति राज्य के अन्दर सत्य और धर्म का प्रवर्तन करता है। अर्थात् राजा ही सत्य का स्वरूप है, राजा ही धर्म का स्वरूप है और राजा ही सबका हित सम्पादित करने वाला है। जिसप्रकार शासित न होने पर एक मछली दूसरी मछली को खा जाती है उसी प्रकार से शासक के न होने पर प्रजा निरंकुश होकर एक—दूसरे का भक्षण करने लगती है।[२]

१. यमोवैश्रवण: शक्रो वरुणश्च महाबल: ।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महतातत: ।। वा.रा. (अयो.) ६७/३५

२. यथा दृष्टि: शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्त्तते ।
तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभव: सत्यधर्मयो: ।।
राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम् ।
राजा माता—पिता चैव राजा हितकरोनृणाम् ।। वही (अयो.) ६७/३३—३४

राजा के इस महत्त्व का अङ्कन करने के पश्चात् यह विवेचन भी वाल्मीकि रामायण में किया गया है कि राजा के क्या गुण हैं और क्या दोष हैं। अर्थात् राजा किन कार्यों का सम्पादन करे कि वह गुणी राजा होवे और किन कार्यों का सम्पादन न करे जिससे उसे दुर्गुणी राजा के रूप में देखा जाये। किसी एक विद्वान् ने प्राचीन भारतीय परम्परा का विवेचन करते हुये इस सम्बन्ध में अपना यह मत व्यक्त किया है कि राजा का एकमात्र कर्त्तव्य यह है कि वह अपने द्वारा स्थापित शासन से प्रजा का अनुरञ्जन करे अर्थात् वह इसप्रकार से अपना शासन चलावे; जिससे उसके शासन सञ्चालन से प्रजा सभी प्रकार से प्रसन्न रहे।[१] वाल्मीकि रामायण का जब शासकों की अच्छाई, बुराई के सम्बन्धों में अध्ययन किया जाता है तो वहाँ पर यह दिखायी देता है कि राजा के गुण–दोषों को लेकर वहाँ कोई विशेष विवरण नहीं दिया गया है। वाल्मीकि रामायण में राजा के अधिकार कर्त्तव्य के रूप में भी केवल कर्त्तव्यों का वर्णन है जिनमें ऐसा प्रतीत होता है कि कर्त्तव्य ही अधिकारों से अधिक महत्त्वपूर्ण थे। इस रूप में यह भी कहना सङ्गत है कि उसके श्रेष्ठ कर्त्तव्य ही राजा के गुण थे। राजा के कर्त्तव्यों में यह निर्धारण था कि वह सभी दृष्टियों से राज्य की सुरक्षा करे और राज्य में निवास करने वाले सभी व्यक्तियों के हित की चिन्ता करे। श्रीराम के सन्दर्भ में जब उनके गुणों का वर्णन किया गया है तो उन्हें इसी रूप वाला बताया गया है। वे धर्मज्ञ थे, सत्यप्रतिज्ञ थे, प्रजा के हित साधन में लगे रहने वाले थे, यशस्वी थे, ज्ञानी थे, पवित्र चरित्र वाले थे, जितेन्द्रिय थे और अपने मन को सदा वश में रखने वाले थे। श्रीराम ऐसे प्रजापति थे जैसे प्रजापति अथवा विधाता प्रजा का पालन करता है, वे श्रीसम्पन्न थे, वैर को नष्ट करने वाले थे, सभी जीवों के रक्षक थे और धर्म को धारण करने वाले थे। श्रीराम के विषय में और विस्तार से वर्णन करते हुये

१. हि. प., पृ. ३५२

महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है कि वे स्वजनों का पालन करने वाले थे, वेद–वेदाङ्ग थे और धनुर्विद्या के भी परिपुष्ट ज्ञाता थे। उनकी स्मरण शक्ति तीव्र थी, वे प्रतिभा सम्पन्न थे, वे अच्छे विचारों वाले थे, चतुर थे और अपने इन्हीं गुणों के कारण वे सभी लोकों में प्रिय थे। महर्षि ने लिखा है कि जिस प्रकार सभी नदियाँ बिना किसी व्यवधान के समुद्र में मिल जाती हैं उसी तरह से साधु पुरुष श्रीराम से मिलने में किसी तरह का सङ्कोच नहीं करते थे।[1] इस रूप में हम यह देख सकते हैं कि जो भी राजा हो वह धर्म का ज्ञाता हो, सत्य का पालन करने वाला हो और प्रजा के हित में सतत निरत रहे, वह जितेन्द्रिय होकर सदा–सर्वदा अपनी इन्द्रियों को वश में रखे तथा बिना किसी भेद–भाव के सभी जीवों की रक्षा में सतत संलग्न रहे। वह जहाँ सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा में संलग्न रहे वहीं दूसरी ओर अपने परिवार जनों की उपेक्षा भी न करे। उसके लिये यह आवश्यक होता था कि अपने पद के अनुरूप शास्त्रार्थ के सञ्चालन में कुशल होवे।

१. धर्मज्ञः सत्यसंघश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ।।
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ।।
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ।।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभावान् ।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ।।
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ।। वा.रा. (बाल) १/१२–१६

उपरिलिखित रूप से प्रजा के जिन गुणों का वर्णन किया गया है उसमें उसका यह गुण मुख्य है कि वह हर स्थिति में अपने नागरिकों के जीवन की सुरक्षा करे क्योंकि उसे न केवल आन्तरिक सङ्कट में राज्य की रक्षा करनी है अपितु वाह्य सङ्कट आने पर भी उसे राज्य का संरक्षण करना है। इसके लिये राजा को अधिकार प्राप्त होते थे। इसीलिये एक स्थान पर भरत से यह प्रश्न किया गया था कि क्या तुम अपनी विद्या और बुद्धि के द्वारा इन्द्रियों को जीत चुके हो। मनुष्यों के लिये जो छह गुण कहे गये हैं क्या उन गुणों में दक्षता प्राप्त कर चुके हो, राजा के लिये जिन नीतियों का वर्णन किया गया है क्या उन नीतियों में दक्ष हो चुके हो और इसी तरह से क्या सन्धि–विग्रह नीति और ज्ञान को जान चुके हो। नीतिशास्त्र के अनुसार मन्त्रियों के साथ पृथक्–पृथक् रूप से अथवा समूह रूप से विचार करने की परम्परा को क्या तुम जान चुके हो क्योंकि वही राजाओं के गुण हैं।[१]

इन सब कर्त्तव्यरूपी गुणों के साथ–साथ राजा से यह अपेक्षा की जाती थी वह जहाँ एक ओर अपने धर्म का पालन करेगा वहीं दूसरी ओर वह प्रजा से भी धर्म का पालन करायेगा। अर्थात् यह राजा का गुण होगा कि वह स्वयं धर्म पर चले और दूसरे को धर्म पर चलने के लिये प्रेरित करे। प्रजा में जो कोई धर्म का पालन न करता हो और अधर्म के मार्ग पर चलता हो उसे दण्डित करे। श्रीराम ने बालि वध करते समय यही कहा था कि हम धर्म का आचरण करते हैं और ऐसा आचरण करते हुये जो धर्म भ्रष्ट होकर अनीति के मार्ग पर चलते हैं उनको दण्ड देते हैं।[२]

---

१. वा. रा. (अयो.) १००/७०–७१

२. ते वयं मार्गविभ्रष्टं स्वधर्मे परमे स्थिताः ।
भरताज्ञां पुरस्कृत्य निगृहणीमा यथा विधिः ।। वही, (कि.) १८/११

राजा के लिये इस रूप में अपना जीवन व्यतीत करने के साथ—साथ यह भी वर्णन किया गया है कि वह ऐसा आदर्श प्रस्तुत कर सके जिससे प्रजा उसे न्यायी राजा के रूप में देखे। उसके द्वारा ऐसा कोई कार्य सम्पादित न हो जिससे उसका अन्याय प्रकट होता हो। इसीलिये यह कहा गया है कि राजा इस प्रकार से दण्ड की व्यवस्था करे जिसमें अनेक दुष्ट व्यक्तियों को दण्डित करते समय कोई भी एक निरपराध व्यक्ति दण्डित न हो जाये। इसके लिये वाल्मीकि रामायण में श्रीराम ने भरत! को न्याय व्यवस्था का मार्ग बताते हुये यह कहा था कि प्रिय भरत निरपराध होने पर मिथ्या दोष लगाकर जिन्हें दण्डित कर दिया जाता है उन मनुष्यों की आँखों से जो अश्रु निकलते हैं वे पक्षपात पूर्ण शासन करने वाले राजा के पुत्र और पशुओं का विनाश कर डालते हैं।[1] इसलिये कभी भी राजा को ऐसा अन्याय नहीं करना चाहिए जिसमें कोई निरपराध व्यक्ति सजा का पात्र हो जाये।

इस रूप में राजा के लिये यह उसके राज्य पालन का एक गुण होता था कि वह अपने राज्य में होने वाली विधि व्यवस्था पर दृष्टि रखे और कभी भी अपनी विधि का दुरुपयोग इसप्रकार न होने दे जिससे कोई निरपराध व्यक्ति दण्ड पा जाये। इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुये महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है कि जिस राजा का राज्य धर्म पर आधारित होकर चलता है और जहाँ न्याय का कार्य विधिपूर्वक सम्पादित होता है वहाँ पर सभी प्रकार की प्रसन्नता रहती है तथा राज्य भी दीर्घकाल तक चलता रहता है। राम को सम्बोधित करते हुये एक श्वान ने ऐसा ही मत व्यक्त किया था।[2]

१. यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव ।
तानि पुत्रपशून् घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ।। वा. रा. (अयो.) १००/५९

२. धर्मेण राष्ट्रं विन्देत धर्मेणैवानुपालयेत् ।
धर्माच्छरण्यतां याति राजा सर्वभयापहः ।। वा. रा. (उत्तर) प्रक्षिप्त. १५

जहाँ वाल्मीकि रामायण में राजा के द्वारा आचरण में लाये जाने वाले गुणों का वर्णन किया गया है वहीं पर राजा के दोषों का सङ्केत भी अयोध्या काण्ड में किया गया है। श्रीराम ने वन में आने पर और भरत से भेंट होने पर उनकी कुशल प्रश्न पूछते ही राजा के गुण—दोषों का भी वर्णन किया था। श्रीराम ने कहा था कि भरत अब तुम्हें अयोध्या की प्रजा का पालन करना है इसलिये जहाँ एक ओर तुम राजा के श्रेष्ठ धर्म का पालन करते हुये गुणवान् बनना वहीं तुम उन आचरणों का व्यवहार मत करना जो राजाओं के लिये दोषपूर्ण कहे गये हैं। श्रीराम ने राजा के लिये जिन दोषों का विवेचन किया है उनकी संख्या चौदह बतायी गयी है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राजा को ऐसे चौदह कार्य नहीं करना चाहिए। उसके लिए यह आवश्यक है कि अपनी आस्तिक वृत्ति का पालन करते हुये वह राज्य कार्य करे। इसी तरह से राजा कभी भी असत्य भाषण न करे। वह सदा—सदा सत्य के मार्ग पर चले जिससे उसकी प्रजा भी उसी मार्ग का अनुसरण कर सके। इसीप्रकार से श्रीराम ने कहा था कि राजा को क्रोध नहीं करना चाहिए, कभी भी अपने कार्यों में प्रमाद नहीं करना चाहिए और न कभी उसे दीर्घसूत्री होना चाहिए। वह दक्षतापूर्वक अपने कार्यों का सम्पादन करे और जिस कार्य को जिस समय में सम्पादित होना है, उसे उसी निर्धारित समय में सम्पादित करना चाहिए। राजा कभी ऐसा न करे कि वह ज्ञानी पुरुषों का सङ्ग न करे और आलसी हो। वह इन दोषों को त्यागकर ही राज्य कार्य का सम्पादन करे क्योंकि इन दोषों के न त्यागने से जहाँ एक ओर राजा के जीवन में दोष आते हैं वही राज्य कार्य भी प्रभावित होता है।[1]

१. नास्तिक्यनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥ वा. रा. (अयो.) १००/६५

राजा के इन दोषों के वर्णन सातत्य में यह भी कहा गया है कि राजा राजकार्य के विषय में बिना मन्त्रियों का सहयोग लिये अकेले ही किसी विषय पर विचार न करे। वह सदा सर्वदा अपने अमात्यों का सहयोग लेता रहे। इसी के साथ ही वह यह भी ध्यान रखे कि उसके सलाहकार मूर्ख न होवें। राजा यदि बुद्धिमान् सलाहकारों से सलाह नहीं करेगा तो उसका राज्यकार्य प्रभावित होगा और यह उसका दोष होगा। इसी तरह से राजा अपने मन्त्रियों के बीच में जो गोपनीय सलाह करे उसे कहीं प्रकट नहीं होना चाहिए। किसी भी राजा की गुप्त मन्त्रणा का प्रकट होना यह उसके लिये बहुत बड़ा दोष है।

राजा के दोषों में इन दोषों के अतिरिक्त अन्य और दोषों का कथन भी किया गया है। जैसे कि राजा अपना कोई कार्य प्रारम्भ करे और उसमें माङ्गलिक आयोजन न करे तो यह उसका दोष होगा क्योंकि राजा के द्वारा कार्यारम्भ के समय माङ्गलिक कार्य करना आवश्यक होता है। इसीप्रकार से राजा के दोषों में चौदहवाँ सबसे बड़ा दोष यह है जब वह एक साथ ही सभी राजाओं पर आक्रमण कर दे। सम्भवतः यह दोष इसलिये है कि यदि राजा ऐसा करेगा तो वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग एक साथ नहीं कर पायेगा और उसके शत्रु राजा सम्भव है कि उसके आक्रमण का प्रत्युत्तर देने लगें। इससे राजा पराजित हो सकता है और उसका जो लक्ष्य है उससे भ्रष्ट हो सकता है। इसलिये यदि राजा के एक से अधिक शत्रु होवें तो कभी भी उसे एक साथ अपने सभी शत्रुओं पर आक्रमण नहीं करना चाहिए।[1]

१. एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम् ।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ।।
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ।।
कच्चित् त्वं वर्जस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश ।। वा.रा. (अयो.) १००/६६–६७

उपरिलिखित विवरण के अनुसार राजा के जो अन्य गुण—दोष कहे गये हैं उनका भी उल्लेख यहाँ पर सङ्केत रूप में किया जा सकता है। जैसे कि जो शासक होवे उसे गुणज्ञ होना चाहिए, अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ता दिखाने वाला होना चाहिए और विद्वान् होना चाहिए। इन गुणों की आवश्यकता इसलिये है क्योंकि वह एक ऐसा शासक है जिसे पूरे राज्य का भार संभालना है। राजा में जहाँ बातचीत करने की दक्षता हो वहाँ उसमें राजनीति की दक्षता भी होनी चाहिए। एक स्थान पर श्री हनुमान् जी ने सीता जी को शासक के रूप में जिसप्रकार प्रस्तुत किया था उसमें उन्होंने कहा था कि वे चारों वर्णों की रक्षा करने में सक्षम हैं, लोक में जो धर्म की मर्यादा है उसे भी सुरक्षित कर सकते हैं। वे यजुर्वेद के ज्ञाता हैं, वेदवेत्ता हैं और साधु पुरुषों का उपकार मानकर अपने सत्कर्मों का प्रचार वे अपने आचरण से करते हैं। इसी तरह से उनके गुणों का वर्णन करते हुये यह कहा गया था कि वे राजनीति भली प्रकार जानते हैं, ब्राह्मणों की उपासना विधिपूर्वक करते हैं, ज्ञानवान् हैं, शीलवान् हैं, विनम्र हैं और शत्रुओं को सन्ताप देने में समर्थ है।[१] जब श्रीराम ने बालि का वध किया था तब बालि ने राजा के गुणों का वर्णन करते हुये कहा था कि महाराज! साम, दाम, क्षमा, धर्म, सत्य, धृति, पराक्रम और अपराधियों को दण्ड देना ये राजाओं के गुण हैं।[२]

राजाओं के इन गुणों का वर्णन करते हुये बालि ने उनके दुर्गुणों का भी वर्णन किया था। दुर्गुणों का वर्णन करते हुये उसने कहा था कि जैसे राजा के लिये वे सभी गुण हैं उसी तरह से काम के वश में होना, क्रोध करना, अपनी मर्यादा में स्थित न रहना और चञ्चल स्वभाव वाला होना ये राजाओं के दुर्गुण हैं।[३]

---

१. राजनीत्यां विनीतश्च ब्राह्मणानामुपासकः ।
ज्ञानवान् शीलसम्पन्नो विनीतश्च परमतपः ।। वा.रा. (सुन्दर) ३५/१३

२. सामदानं क्षमाधर्मः सत्यं धृति पराक्रमौ ।
पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु ।। वही, (कि.) १७/२९

३. त्वं तु कामप्रधानश्च कोपनश्चानवस्थितः ।
राजवृत्तेषु संकीर्णः शरासनपरायणः ।। वही, १७/३३

अयोध्या में श्रीराम को शासक के जिस रूप में देखा गया था उसमें यह कहा गया था कि श्रीराम इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुये सत्यवादी और क्षमा में पृथ्वी की समानता करने वाले हैं। राम ऐसे शासक होंगे जो बुद्धि में बृहस्पति के समान हैं और बल में शचीपति इन्द्र के समान हैं। वे धर्मज्ञ हैं, सत्यप्रतिज्ञ हैं, शीलवान् हैं, किसी के दोषों को न देखने वाले हैं, मृदु बोलने वाले हैं, सभी को शान्त्वना प्रदान करने वाले हैं, कल्याणकारी हैं, स्थिर बुद्धि वाले हैं और सभी प्राणियों से प्रिय बोलने वाले हैं। उन्हें देवताओं, असुरों और मनुष्यों के सम्पूर्ण अस्त्र–शस्त्रों का ज्ञान है, वे साङ्‌वेद के ज्ञाता और दूसरे शास्त्रों के भी निष्णात हैं, वे ऐसे हैं जिन्हें सङ्गीत शास्त्र का भी ज्ञान है और जो साधु पुरुषों के सदृश्य चरित्र वाले हैं, उदार हैं और बुद्धिमान् हैं। इसी तरह से वे जब नगर की रक्षा के लिये अपने अनुजों के साथ संग्राम भूमि में जाते हैं तो कभी भी पराजित होकर नहीं लौटते। इसप्रकार से वे परमवीर भी हैं[१]

१. प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः ।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छचीपतेः ।।
धर्मज्ञः सत्य संधश्च शीलवाननसूयकः ।
क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः ।।
मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसूयकः ।
प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः ।।
बहुश्रुतानां बृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता ।
तेनास्येहातुला कीर्तियशस्तेजश्च वर्धते ।।
देवासुरमनुष्याणां सर्वास्त्रेषु विशारदः ।
सम्यग् विद्याव्रतशास्तो यथावत् साङ्‌वेदवित् ।।
गान्धर्वे च भुवि श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ।
कल्याणाभिजनः साधुरदीनात्मा महामतिः ।।
द्विजैरभिविनीतश्च श्रेष्ठैर्धर्मार्थनैपुणैः ।
यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थे नगरस्य वा।। वा.रा. (अयो.) २/३०–३६

जहाँ राजा के लिये अन्य गुणों की अपेक्षा होती है वहाँ उससे यह अपेक्षा भी की जाती थी कि वह नीति का पालन भली प्रकार करे और नैतिक आचरण वाला राजा बने। इसलिये यह कहा जाता था कि राजा का वह गुण है जिसमें वह सत्य का पालन करने वाला हो, तपस्या करने वाला हो और हर स्थिति में अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाला हो, उसका पूरा का पूरा जीवन—व्यवहार पवित्र हो और कभी भी अपने मन को चञ्चल न होने दे। महर्षि नारद ने जब वाल्मीकि को श्रीराम की विशेषताओं का वर्णन किया था तो राम में उन्होंने इन्हीं विशेषताओं को देखा था।[१] इन गुणों के अतिरिक्त उनमें और भी ऐसे गुण थे जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को विशिष्ट बनाते थे।

दूसरे जिन लोगों ने राम को दूसरे रूप में देखा था उसमें हनुमान् थे जिसमें उन्होंने यह देखा था कि राम सदाचार का पालन करने वाले थे, सज्जन पुरुषों का उपकार करने वाले थे और स्वयं भी उन कर्मों का सम्पादन करते थे जिन्हें सत्कर्म की श्रेणी में कहा जा सकता था।[२] और भी ऐसे अन्य स्थल हैं जिनमें शासक के रूप में राम के गुणों का कथन है और उन गुणों में उन्हें प्रियवचन बोलने वाला तथा सज्जन पुरुषों का साथ करने वाला बताया गया है। वे स्वयं भी उदार हृदय के राजपुरुष थे जो उदारतापूर्वक व्यवहार करते थे। वे सदा अपनी इन्द्रियों को वश में रखते थे और कभी भी असंयमित नहीं होते थे क्योंकि राजा के गुणों में संयम जहाँ एक गुण है वहीं उसका अंसयम उसका एक दुर्गुण भी है।[४]

१. धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः ।
   यशस्वी ज्ञान सम्पन्नः शुचिर्वस्यः समाधिमान् ।। वा.रा. (बा.) १/१२
२. वही, (सुन्दर) ३५/१२
३. वही, २/३३; २/४६
४. वही, २/४७

शासक के लिये अन्य दार्शनिकों ने जहाँ पर यह निर्धारित किया है कि वे यदि शासितों के प्रति उदार होवें, न्याय करने वाले होवें और सम्पूर्ण प्रजा को पुत्रवत् मानने वाले होवें तो उनके लिये यह भी आवश्यक है कि वे आत्मिक गुणों से परिपूर्ण होवें। अर्थात् उनमें उदारता हो, आत्मसंयम हो और किसी प्रकार का ऐसा कोई दुर्गुण न हो जिससे उसका व्यक्तिगत जीवन कलङ्कित होता हो और राज्य में उसका विकृत चरित्र जाता हो। विदेशी विचारकों में भी इस तरह के राजाओं की कल्पना की गई है और ऐसे राजाओं का चरित्र प्रस्तुत किया गया है जो आदर्श राजा के रूप में कहे जा सकते हैं। पाश्चात्य विचारक और दार्शनिक प्लेटो ने ऐसे ही राजा की कल्पना की थी जो एक अच्छे नाविक की भांति राज्य को दिशा दे सकता हो।[१] उन्होंने यह चाहा था कि शासक में ज्ञान की पिपाशा हो, उसका दृष्टिकोण ऐसा हो जो व्यापक हो, वह प्रतिभा का धनी हो, इसके साथ ही साथ उसमें सत्य, न्याय, धैर्य और संयम आदि के गुण होवें।[२]

वे यह चाहते हैं कि राजा ऐसा हो जो अपनी इन्द्रियों को वश में कर सके, उसके मन में लोभ न हो, वह किसी का दोष न देखता हो, उसमें उदारता और साहस जैसे गुण होवें।[३] प्लेटो ने अपनी दार्शनिक वृत्ति के साथ–साथ राजा में भी इन वृत्तियों की कल्पना की है इसीलिये उसने चाहा है कि राजा में दार्शनिक प्रवृत्ति हो, वह आत्मसंयम से समन्वित हो और उच्च विचार वाला होवे।[४] राजा में विधि और परम्परा के प्रति आस्था हो। अर्थात् जहाँ वह एक ओर परम्परा का पालन करने वाला हो वहीं वह पूरी तरह से विधि परम्परा का पालन भी करे। इसी तरह से वे यह चाहते हैं कि राजा में उत्कृष्ट रूप में देशप्रेम की भावना हो।[५] इस रूप में यह देखना सुखद हो सकता है कि भारतीय परम्परा और विदेशी परम्परा में बहुत अधिक समानता पायी जा सकती है।

१. ऋक्. (४८८) पृ. २४९–२५०
२. वही, (४८७) पृ. २४७
३. वही, (४९६) पृ. २४६
४. वही, (४७६) पृ. ११२
५. वही, (५०३) पृ. २६६

(ब) राजा और प्रजा का नैतिक तथा आचारात्मक सम्बन्ध

वाल्मीकि कालिक समाज में शासकों का चयन जिस रूप में होता था उसमें यह देख सकते हैं कि वह परम्परा एक प्रकार से राजतन्त्र की परम्परा थी। राजाओं का चयन प्राय: करके राजकुलों से ही होता था और जब तक कोई अन्यथा स्थिति नहीं होती थी तब तक प्रत्येक राजा अपने जीवनकाल में ही अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी घोषित कर देता था और युवराज पद पर उसका अभिषेक कर देता था। ज्येष्ठ पुत्र के अभाव में राजा का भाई अथवा उसका भतीजा राज्य का उत्तराधिकारी होता था। यद्यपि ऐसा निर्णय करता हुआ राजा अपने मन्त्रियों, गुरुजनों और सामाजिकों से इसकी सहमति प्राप्त कर लेता था तथापि सर्वोपरि इच्छा राजा की ही होती थी और जो उत्तराधिकारी होता था वह राजवंश का होता था इसलिये यह परम्परा एक प्रकार से राजतन्त्र की परम्परा ही थी और इसमें राजा भी मन्त्रिपरिषद् के बीच में अपने प्रस्तावों की स्वीकृति कराने के बाद भी सर्वाधिकार अपने पास सुरक्षित रखता था। महाराज दशरथ ने अपने मन्त्रियों से, सभासदों से और अन्य लोगों से यही कहा था। उन्होंने कहा था कि मैं पुष्य—नक्षत्र से युक्त चन्द्रमा की भाँति समस्त कार्यों के साधन में कुशल तथा धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीराम को कल प्रात:काल युवराज के पद पर अभिषिक्त करुंगा। दशरथ ने कहा था कि इन जैसा स्वामी आपको दूसरा नहीं मिलेगा, इनके शासन में त्रिलोक सनाथित होगा। मैं इनका अभिषेक करके भूमण्डल को कल्याण का भागीदार बनाऊँगा।

१. तं चन्द्रमिव पुष्येव युक्तं धर्मभृतां वरम् ।
यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रात: पुरुषपुङ्गवम् ।।
अनुरूप: स वो नाथो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणाग्रज: ।
त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम् ।।
अनेन श्रेयसा सद्य: संयोक्ष्येऽहमिमां महीम् ।
गतक्लेशो भविष्यामि सुते तस्मिन् निवेश्य वै ।। वा.रा. (अयो.) २/१२—१४

यद्यपि महाराज दशरथ ने अपने इस प्रस्ताव की स्वीकृति अपने सभासदों से प्राप्त की थी किन्तु इसमें मुख्य इच्छा महाराज दशरथ की ही थी। इसलिये यह एक प्रकार से उदार राजतन्त्र का स्वरूप था जो तत्कालीन समय में अधिकतम रूप में प्रचलित था।

यहाँ पर यह जान लेने के बाद भी कि तत्कालीन शासन–व्यवस्था राजतन्त्र की थी, राजा के लिये उस समय व्यक्तिगत जीवन में और सामाजिक जीवन में अधिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। जहाँ राजा के लिये आवश्यक था कि वह व्यक्तिगत जीवन में पवित्र विचारों वाला बने और अपनी इन्द्रियों को सदा संयमित रखे वहीं राजा के लिये यह अनिवार्य था कि वह प्रजा के प्रति नैतिक रूप से और आचारात्मक रूप से उत्तरदायी रहे। अयोध्या के प्रजाजनों ने जब दशरथ के समक्ष राम के राज्याभिषेक की स्वीकृति दी थी तब उन्होंने राम में इन्हीं गुणों का अवलोकन किया था। उन्होंने कहा था कि राम प्रजा को सुख देने वाले हैं, वे ऐसे हैं जो दीन और दु:खियों को सान्त्वना देते हैं तथा सभी प्राणियों के प्रति प्रिय वचन बोलते हैं। वे जब युद्ध से लौटकर आते हैं तो वे अपने पुरवासियों से इस प्रकार मिलते हैं जैसे कोई व्यक्ति बाहर से आने के बाद अपने स्वजनों से मिलता है। इसीप्रकार वे पुरवासियों का समाचार ऐसे पूँछते हैं जिस तरह कोई अपने पुत्रों, स्त्रियों, सेवकों और शिष्यों का समाचार पूँछता है।[1]

१. प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः ।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छचीपतेः ।।
गत्वा सौमित्रिसहितो नाविजित्य निवर्तते ।
संग्रामात् पुनरागत्य कुञ्जरेण रथेन वा ।।
पौरान् स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति ।
पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च ।। वा.रा. (अयो.) ३०,३६–३८

राजा में प्रजा के प्रति किस प्रकार का भाव हो और कैसे वे अपना राज्य सञ्चालन करते हुये नियम का भी पालन करें इसका सङ्केत वाल्मीकि रामायण में यह वर्णन कर किया गया है। वे प्रजा को शासित और स्वयं को शासक मानने की मनः स्थिति वाले नहीं थे इसीलिये प्रजा के प्रतिनिधि उनके लिये कहते हैं कि जैसे कोई अपने पुत्रों का मङ्गल जानना चाहता है उसी तरह से वे सम्पूर्ण अवधवासियों का कुशल क्षेम पूँछते थे। जब कभी नगर में कोई सङ्कट आ जाता था और उस सङ्कट से उनकी प्रजा दुःखी होती थी तो वे भी ऐसे दुःख का अनुभव करते थे जैसे उनके परिवार में किसी प्रकार का दुःख आ गया हो। इसी तरह से जब उनकी प्रजा उत्सव मनाती थी तो वे भी उसके साथ उत्सव मनाकर अपनी सहभागिता प्रदर्शित करते थे और तब वे इतने प्रसन्न होते थे जैसे कोई पिता अपने परिवार का उत्साह देखकर प्रसन्न होता है। श्रीराम वीर थे, सैन्य सञ्चालन में कुशल थे, पराक्रमी थे किन्तु उनका सैन्य सञ्चालन और पराक्रम ऐसा था जिसका उपयोग सदा—सर्वदा प्रजा के हित में होता था।[१] इस रूप में राम की जो विशेषतायें हैं वे प्रजा के प्रति उनके सम्बन्धों से सम्बन्धित हैं और इन सम्बन्धों में मुख्य रूप से राजा का प्रजा के साथ स्थापित होने वाला सम्बन्ध ही है।

---

१. पौरान् स्वजनान्नित्यं कुशलं परिपृच्छति ।
पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च ।।
निखिलेनानुपूर्व्या च पिता पुत्रानिवौरसान् ।
शुश्रूषन्ते च वः शिष्याः कच्चिद् वर्मसुदंशिताः ।। वा.रा. (अयो.) २/३८—४०
रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमैः ।
प्रजापालनसंयुक्तो न रागोपहतेन्द्रियः ।। वही, ४४

तत्कालीन समय में राज परम्परा से उत्तराधिकार प्राप्त करने के बाद भी राजाओं पर नैतिकता का इतना अधिक दबाब रहता था कि वे लोकमत की उपेक्षा किसी भी रूप में नहीं कर पाते थे। लोक के लिये जो हितकारी होता था उसका पालन करना सभी राजाओं के लिये लगभग अनिवार्य होता था। जो सत्य की मर्यादा का उल्लङ्घन करता था, सदाचार की उपेक्षा करता था और ऐसा कर्म करता था जिसकी निन्दा सत्पुरुषों द्वारा होगी तो ऐसा पुरुष समाज में उपेक्षा के योग्य होता था। यदि कोई राजा ऐसा कार्य करता था तो वह भी निन्दा के योग्य माना जाता था। राजाओं के द्वारा न किये जाने वाले कर्मों को बताते हुये बालि ने श्रीराम से यही कहा था कि आपने ऐसा काम किया जिससे सदाचार टूट गया, सत्पुरुषों के धर्म तथा मर्यादा का उल्लंघन हुआ और धर्मरूपी अङ्कुश भी भङ्ग हुआ। इस तरह का कार्य करके भला आप समाज में किस रूप में जायेंगे और समाज आपको क्या कहेगा।[1]

इस रूप में जो सदाचार था और धर्म के पालन करने का नियम था वह राजा के लिये एक ऐसा अङ्कुश था जिसमें बँधकर राजा प्रजा के साथ व्यवहार करता था और जिस कसौटी पर कसकर राजा तथा प्रजा का व्यवहार निरूपित होता था। राजा और प्रजा के प्रति व्यवहार का सम्मान जहाँ महाराज दशरथ ने सदा किया और यह ध्यान रखा कि उनके व्यवहार से प्रजा को किसी प्रकार का क्लेष न हो वहीं पर बालि ने वानरों के बीच शासन करते हुये यह ध्यान दिया कि उनका व्यवहार भी प्रजा के प्रति ऐसा न हो जिससे प्रजा पीड़ा का अनुभव करे। इसलिये बालि भी सदा ऐसा व्यवहार करने का प्रयत्न करता रहा जिससे प्रजा सन्तुष्ट बनी रहे। रावण ने यद्यपि अपना शासन सदा–सर्वदा अपनी इच्छा के अनुसार ही चलाया किन्तु फिर भी उसने

१. छिन्न चारित्र्य कक्ष्येण सतां धर्मातिवर्तिनः ।
त्यक्तधर्माङ्कुशेनाहं निहितो रामहस्तिनः ।।
अशुभं चात्युक्तं च सतां चैव विगर्हितम् ।
वक्ष्यसे चेदृशं कृत्वा सद्भिः सह समागतः ।। वा.रा. (कि.) १७/४४–४५

कभी न कभी लोकमत को महत्त्व दिया। जब लङ्का में हनुमान् पहुँचे और उन्होंने रावण की सभा में श्रीराम की प्रशंसा की तो रावण क्रोधित हो उठा और उसने यह आज्ञा दी कि इस वानर का वध कर दिया जाये।[1] इस आज्ञा के पश्चात् विभीषण ने उपस्थित होकर रावणको समझाया और कहा कि अपने दरबार में आये हुये दूत को मृत्युदण्ड देना उचित नहीं है। विभीषण की यह बात सामान्य प्रतिनिधियों के रूप में स्वीकार करके रावण ने इसे स्वीकार कर लिया और कहा कि विभीषण तुम्हारी यह बात ठीक है इसलिये इस वानर को वध का दण्ड न देकर कोई अन्य दण्ड दिया जाये।[2]

राजा और प्रजा के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध अनिवार्य था जिसमें राजा सदा यह ध्यान रखता था कि कभी भी उसके द्वारा ऐसा कोई कार्य न हो जिससे प्रजा असन्तुष्ट हो जाये। यहाँ तक कि वे प्रजा को प्रसन्न करने के लिये और प्रजा की भावना को महत्त्व देने के लिये अपने परिवारी जनों को भी त्यागने में सङ्कोच नहीं करते थे। एक राजा सगर का कथानक ऐसा है जिस राजा ने प्रजा की इच्छा न होने पर अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य से निर्वासित कर दिया था। सगर के इस पुत्र का नाम असमञ्ज था। प्रजा की विपरीत इच्छा जानने के बाद उन्होंने पुत्र को राज्य से बाहर करते हुये कहा था कि मेरे इस पुत्र को उसकी पत्नी के साथ रथ पर बिठाकर राज्य से बाहर कर दो।[3]

१. स तस्यवचनं श्रुत्वा वानरस्य महात्मनः ।
आज्ञापयद् वधस्तस्य रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।। वा.रा. (सुन्दर) ५२/१

२. सम्यगुक्तं हि भवतः दूतवध्यः विगर्हितः ।
अवश्यन्तु बधायान्याः क्रियतामस्य निग्रहः ।। वही ५३/२

३. तं पानं शीघ्रमारोप्य सभार्यसपच्छिदम् ।
यावज्जीवं विवाश्योऽमिमिति तानन्वशात् पिता।। वही, (अयो.) ३६/२४

जब महाराज दशरथ ने राम को वनवास दिया था तो सम्पूर्ण प्रजा इसके विरुद्ध थी। भरत को सम्भवत: इसीलिये राज्य प्राप्त नहीं हो सका और सम्भवत: भरत ने भी यह अनुमान कर लिया था कि श्रीराम के वन जाने में उनकी माता का जो हाथ है उससे वे भी कलङ्कित हुये हैं इसलिये उन्होंने वशिष्ठ जी को यह उत्तर दिया था कि महाराज! दशरथ का कोई भी पुत्र ज्येष्ठ भ्राता के रहते हुये राज्य ग्रहण कैसे कर सकता है। उन्होंने कहा था कि यह राज्य और मैं दोनों राम के हैं इसलिये आप धर्म सङ्गत बात करें।[1] इसी तरह से जब श्रीराम को यह अनुभव हुआ कि महारानी सीता का रावण के यहाँ रहना सामाजिक दृष्टि से उचित नहीं है तो उन्होंने अपने ही सामने सीता को अग्नि प्रवेश के लिये प्रेरित किया था। सीता के विषय में फैले हुये लोकापवाद की चर्चा स्वयं राम ने अपने भाईयों के समक्ष की थी और कहा था कि सीता के विषय में समाज में जो अपवाद फैला है उससे मैं भी घृणा का पात्र हो गया हूँ। पुरवासियों में मेरी निन्दा होने लगी है।[2]

इस स्थिति में राम ने कहा था कि इस लोकापवाद के कारण प्रजा के अनुरञ्जनार्थ मैं सभी भाईयों को, सीता को और अपने प्राणों को भी त्याग सकता हूँ और यह कहकर उन्होंने सीता का परित्याग किया था।[3]

इस रूप में हम वाल्मीकि रामायण में राजाओं के जीवन की नैतिकता और उनका आचार देख सकते हैं तथा इस तथ्य से अवगत हो सकते हैं कि वे अपने इस नीति सिद्धान्त और आचार से प्रजा से जुड़े हुये प्रजा पालक राजा थे।

---

१. कथं दशरथाज्जातो भवेद् राज्यापहारक: ।
राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि: ।। वा.रा. (अयो.) ८२/१२

२. पौरापवाद: सुमाहस्तथा जनपदस्य च ।
वर्तते मयि वीभत्सा सा मे मर्माणि क्रन्तति।।
अयंतु मे महानूवाद: शोकश्च हृदि वर्तते। वा.रा. (उत्तर) ४५/३,११

३. वही, ४५/१४,१६

(स) जीवकोपार्जन के साधन :- कृषि तथा पशुपालन आदि -

प्राचीन परम्परा में पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ की महत्ता विशेष रूप में स्वीकार की गयी है और आचार्य कौटिल्य ने तो अर्थ एव पुरुषार्थः कहकर अर्थ को ही पुरुषार्थ के रूप में माना है। कौटिल्य ने जिस रूप में अर्थ को स्वीकार किया है उसमें यह भी इङ्गित किया है कि अर्थ से ही धर्म, काम और मोक्ष की साधना होती है। वाल्मीकि रामायण में यदि हम देखें तो हमें यह ज्ञात होता है कि उस समय यद्यपि अर्थागम के छोटे—मोटे अन्य साधन भी थे किन्तु मुख्य रूप से अर्थ प्राप्ति का जो साधन था उसमें भूमि ही महत्त्वपूर्ण थी। भूमि का महत्त्व इतना अधिक था कि उसी पर अधिकतम सभी लोग आधारित थे। इसलिये वाल्मीकि रामायण में जब सम्पत्ति का विवरण दिया गया है तो उसमें खेत, मकान, दुकान, बाग—बगीचे, धन—धान्य, वस्त्राभूषण, रत्न, वाहन और रथ, गाय—बैल और ऊँट—घोड़े आदि सम्मिलित हैं। खेती के लिये तब वहाँ पर यह कहा गया कि खेती यदि विधिपूर्वक करनी है तो किसी राजा का संरक्षण प्राप्त करना आवश्यक है। यदि संरक्षण के लिये और प्रशासन करने के लिये कोई राजा नहीं होता है तो वहाँ के खेतों में मुट्ठी भर बीज नहीं बोये जा सकते हैं।[१] इसीप्रकार से जब मकान, दुकान और बाग—बगीचों को सम्पत्ति के रूप में कहा गया तो यह वर्णन किया गया कि अयोध्या के भवन सुदृढ़ थे और उन भवनों की अर्गलायें मजबूत थीं।[२] इसी तरह जब बाग—बगीचों और वस्त्राभूषणों का उल्लेख किया गया और उन्हें सम्पत्ति के रूप में बताया गया कि अयोध्या में जहाँ ऊँची—ऊँची अट्टालिकाओं में ध्वज सुशोभित होते थे वहीं उसके चारों ओर इतने बड़े—बड़े उद्यान और आम के बगीचे थे जो उस नगरी की सम्पन्नता को व्यक्त करते थे।[३]

....

१. वा.रा. (अयो.) ६७/१०

२. वही, (बाल.) ६/२८

३. वही, (बाल.) ५/१२; अर्थ. ८/१२७

सम्पत्तियों में जहाँ खेती और बाग–बगीचे सम्मिलित थे वहीं पर पशु भी इसी रूप में गिने जाते थे और आभूषणों तथा रत्नों का उल्लेख सम्पत्ति के रूप में होता था। जिससे वहाँ की सम्पन्नता व्यक्त होती थी।[१]

जैसा कि पहले सङ्केत किया गया है कि उस समय आर्थिक सम्पन्नता का हेतु कृषि भूमि ही थी और कृषि के द्वारा ही अधिकतर अपनी जीविका का निर्वाह किया जाता था। उसी तरह से वाल्मीकि रामायण में यह वर्णन आया है कि तब अर्थाजन के लिये लोग समर्थ पशुओं के द्वारा कृषि कार्य सम्पादित करते थे और तब की खेती वर्षा के जल पर आश्रित नहीं होती थी। इसका अभिप्राय यह था कि तब लोग नदियों अथवा सरोवरों आदि से सम्भवतः सिंचाई कर लेते थे।[२]

एक दूसरे स्थान पर यह वर्णन आया है कि वहाँ की भूमि हरे–भरे वनों से युक्त थी और पृथ्वी खेती किये जाने के कारण हरी–भरी दिखायी दे रही थी। यह किष्किन्धा का दृश्य था जहाँ पर सम्भवतः विधिपूर्वक कृषि कार्य किये जाने के कारण खेती हरी भरी थी।[३]

जब लङ्का पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् भगवान् श्रीराम ने अयोध्या का राज्य भरत के द्वारा सम्पादित कराया था तो भरत ने यह कहा था कि महाराज! आपका राज्य सर्वश्रेष्ठ राज्य है। आपके राज्य में पुरवासियों में सभी प्रकार का हर्ष है। उन्हें आपकी नगरी में रहते हुये परम आनन्द का अनुभव होता है और सभी लोग नीरोग रहकर सुख का अनुभव कर रहे हैं। थोड़े समय पूर्व ही आपके द्वारा राज्य कार्य प्रारम्भ किये जाने पर भी कृषि के लिये प्राणरूप जल समय से प्राप्त होता है और मेघ जिस जल की वर्षा करते हैं वह अमृत स्वरूप होता है।[४] अर्थात् कृषि के लिये अपेक्षित समय में सुन्दर जल की वर्षा मेघ करते हैं और इससे राज्य की कृषि सम्पन्न दिखायी देती है।

१. वा. रा. (बाल.) ५/१३,१५,१६

२. सुकृष्टसीमापशुमान् हिंसाभिरभिवर्जितः ।
अदेवमात्रिको रम्यः आपदैःपरिवर्जितः ।। वही (अयो.) १००/४४–४५

३. वही (कि.) २८/२६

४. हर्षश्चाभ्यधिको राजञ्जनस्य पुरवासिनः ।
काले वर्षति पर्जन्यः पातयन्नमृतं पयः ।। वा.रा. ४१/२०

वाल्मीकि रामायण में व्यापार की बहुत ज्यादा विस्तार से चर्चा तो नहीं है फिर भी जब वैश्यों के कर्त्तव्य का कथन किया गया है तो वहाँ पर यह कहा गया है कि वैश्य कृषि के साथ–साथ व्यापार भी करते थे। इसका कारण यह था कि वैश्यों के कर्त्तव्यों में कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य का वर्णन किया गया है। वैश्य व्यवसाय के द्वारा सम्पन्न थे और अपनी सम्पन्नता से वे अनेक प्रकार से सम्पत्तियों का अर्जन करते थे। अयोध्या वर्णन में जब इस नगरी का वर्णन किया गया है तो वहाँ पर यह कहा गया है कि वह नगरी बड़े–बड़े फाटकों से युक्त भवनों से सुशोभित थी। उस नगरी के बीच–बीच में व्यवसाय करने वाले बाजार भी उपस्थित थे। सम्भवतः इन्हीं बाजारों में अपनी दुकानें रखकर व्यापारी अपना व्यवसाय सञ्चालित करते थे।[१] एक दूसरा सन्दर्भ वैश्यों के लिये और उनके व्यापार के लिये यह है जिसमें श्रीराम भरत से उनका कुशल प्रश्न जानने के बहाने से यह पूँछते हैं कि हे तात! क्या तुम्हारे संरक्षण में कृषि और गोरक्षा के माध्यम से अपनी आजीविका चलाने वाले वैश्य सुखी हैं। वैश्यों के सुख और सम्पन्नता की कामना करने वाले श्रीराम ने इसका हेतु निरूपित करते हुये यह कहा था कि जो लोक कृषि और व्यापार में संलग्न रहता है वह लोक सुखी और सम्पन्न रहता है।[२] इसका अभिप्राय यह हुआ कि अर्थागम के लिये जहाँ कृषि का महत्त्व सर्वाधिक है वहीं पर व्यापार का महत्त्व भी कम नहीं है। जो भी व्यक्तिगत या सामाजिक–आर्थिक स्थिति होती है उसमें व्यापार की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है क्योंकि व्यापार कार्य से न केवल वैश्य ही लाभान्वित होते हैं अपितु समाज के सभी लोग इससे लाभ प्राप्त करते हैं।

---

१. कपाटतोरणं वान्ति सुविभागान्तरापणाम् ।
सर्वयन्त्रायुधनतीमुषिता सर्वशिल्पभिः ।। वा.रा. (बाल.) ५७/१०

२. कच्चित् ते दैताः सर्वे कृषि गोरक्षजीवनः ।
वार्तायां संश्रितश्तात लोकोऽयं सुखमेधते ।। वही (अयो.) १००/४७

कृषि और व्यवसाय के अतिरिक्त तत्कालीन समय में पशु–पालन के द्वारा जीविका के साधन प्राप्त करने का उल्लेख भी वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होता है।

जो लोग सुखी और समृद्ध थे वे गोपालन करते थे। घोड़े, हाथी, ऊँट तथा गधे आदि का उपयोग करते थे।[1] इसमें से गाय और बैल कृषि कार्य के लिये उपयोगी होते थे जबकि घोड़े और हाथी युद्ध के लिये उपयोगी होते थे और ऊँट तथा गधे भारवाहन करने के उपयोग में लाये जाते रहे होंगे।

पशुओं के वर्णन में दूसरे अन्य स्थानों पर भी उल्लेख मिलते हैं। इन उल्लेखों में जब अयोध्या की सम्पन्नता का वर्णन किया गया तो वहाँ यह कहा गया कि वहाँ ऐसा कोई कुटुम्बी नहीं था जिसके पास उत्कृष्ट वस्तुओं का संग्रह न हो और ऐसा भी कोई नहीं था जिसके धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ सिद्ध न हुये हों। इसी तरह से वहाँ पर ऐसा भी कोई नहीं था जिसके पास गाय, बैल, घोड़े और धन–धान्य आदि न हों। अर्थात् वहाँ सभी प्रकार की सम्पन्नता थीं जिसमें पशुओं की प्रचुरता थी।[2]

पशु–पालन में भी गोपालन के महत्त्व को बहुत अधिक महत्त्व तत्कालीन समय में था। महर्षि वशिष्ठ ने एक विशेष गौ का पालन किया था और वे उसे अनेक रत्नों से अधिक मूल्यवान मानते थे। जब उस गाय को प्राप्त करने के लिये विश्वामित्र ने प्रयत्न किया और उसके बदले रत्न सम्पत्ति देनी चाही तो वशिष्ठ ने कहा कि यह गाय मेरे लिये सर्वस्व है। यह मुझे हर प्रकार से सन्तुष्ट करने वाली है, मैं इसे तुम्हें किसी रूप में नहीं दे सकता।[3] इस रूप में गाय के महत्त्व का कथन जहाँ भारतीय परम्परा को व्यक्त करता है वहीं उसकी उपयोगिता को भी दर्शाता है।

---

१. दुर्गगम्भीर परिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम् ।
वाजिवारणसम्पूर्णो गोभिरुष्ट्रैः खरैस्तथा ।। वा.रा. (बाल.) ५/१३

२. वही (बाल.) ६/७

३. एवमुक्तस्तु भगवान् विश्वामित्रेण धीमता ।
न दास्यामीति शबलां प्राह राजन् कचंनम् ।।
पतदेव हि मे रत्नमेतदेव हि मे धनम् ।
एतदेव हि सर्वस्वमेतदेव हि जीवितम् ।। वही (बाल.) ५३/२२–२३

अर्थागम के इन साधनों के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे साधन थे जिनसे व्यक्ति अपनी जीविका अर्जित करते थे। जैसे कि राजा और उसके परिवार के लोग प्रजा से उसकी आय का छठवाँ भाग प्राप्त करते थे और उससे वे राज्य सञ्चालन करने के साथ–साथ अपना जीवन भी यापन करते थे। इसीलिये वाल्मीकि रामायण में यह कहा गया है कि जो राजा प्रजा की आय का छठा भाग प्राप्त करने के बाद भी प्रजा की रक्षा विधिपूर्वक नहीं करता, वह अधर्म का भागीदार होता है।[१] यद्यपि इस वर्णन में यह कहना उचित नहीं होगा कि यह राजा के परिवार और स्वयं के जीवन सञ्चालन की विधा थी, तथापि राजा और उसका परिवार प्रजा की इस सम्पत्ति से अपना जीवन अवश्य चलाता था।

वाल्मीकि रामायण में एक अन्य स्थल पर अर्थार्जन के अन्य साधनों में यह कहा गया है कि कुछ क्षत्रियगण ऐसे होते थे जो सेना में भरती होकर सैनिकों का कार्य करते थे और वे अवैतनिक भी होते थे तथा वैतनिक भी होते थे। श्रीराम जब वन चले गये थे और भरत ने अयोध्या का राज्य अस्वीकार किया था तब वे श्रीराम को लेने के लिये वन में गये थे। उस समय अपने जाने के पूर्व उन्होंने कुछ ऐसे सैनिकों को मार्गशोधन के लिये आगे भेज दिया था जो अवैतनिक सैनिक थे अथवा वैतनिक सैनिक थे।[२] इस रूप में जो वैतनिक सैनिक थे, वे सम्भवतः सेना में कार्य करते हुये वेतन लेकर अपनी जीविका अर्जित करते थे। इस रूप में हम यहाँ यह देख सकते हैं कि सेना में कार्य करते हुये क्षत्रियों द्वारा अपनी जीविका के अतिरिक्त उद्योग आदि की व्यवस्था का सङ्केत रामायण में नहीं है। वहाँ केवल शिल्पियों का उल्लेख है जो अपनी शिल्पकला के द्वारा आजीविका प्राप्त करते थे।[३]

१. बलिषड्भागमुद्धृत्य नृपस्यारक्षितुः प्रजाः ।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमतेगतः ॥
वा.रा. (अयो.) ७५/२५; ६/११ (अरण्य)

२. वही ८२/२०

३. वही (बाल) ५/१०

(द) राजनीति और अर्थनीति का सामञ्जस्य

वाल्मीकि रामायण में अर्थ को सामाजिक ज़ीवन के लिये एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग के रूप में स्वीकार किया गया है। वहाँ पर जब राजा की आवश्यकता का कथन किया गया है तो यही माना गया कि राजा इसीलिये आवश्यक है कि वह समाज की सम्पत्ति की सुरक्षा कर सके। तब राजा के लिये यह भी निर्देश किया गया था कि राजा राज्य की सम्पत्ति की सुरक्षा करे और यथा सम्भव उसमें वृद्धि करे।[१] इसीलिये राजा के प्रतिदिन के कार्यक्रमों में यह भी निर्धारित था कि उसे प्रतिदिन रात्रि के तीसरे पहर में अर्थ साधन का विचार करना चाहिए।[२] वाल्मीकि रामायण में मन्त्रियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में उनकी योग्यता का जो कथन किया गया है उस योग्यता के अनुसार मन्त्रियों को अर्थ के साधनों का ज्ञाता और कोश के संरक्षण का जानकर होना चाहिए।[३] इसीप्रकार वे यह भी लिखते हैं कि वह विद्वान् पुरुष हजारों मूर्खों में श्रेष्ठ माना जाना चाहिए जो अर्थ–सङ्कट से राजा को निकाल सके और उसे सम्पत्ति प्राप्त करा सके।[४]

इस रूप में इस महाकाव्य में यह स्पष्ट रूप से इङ्गित किया गया है कि न केवल व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन के लिये अपितु सामाजिक जीवन के लिये यह आवश्यक है कि वह अर्थ की महत्ता को जानें और अर्थ के व्यवहार से अपने जीवन तथा समाज का व्यवहार चलाये।

१. वा.रा. (अयो.) १००/४६
२. वही, १००/१७
३. वा.रा. (बाल) ७/११–१३
४ कच्चित् सहस्त्रमूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम् ।
पण्डितो सर्वकृच्छेपु कुर्यान्निःश्रेयसं महत् ।।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियाम् ।। वही (अयो.) १००/२२–२४

राजा के लिये ही नही अपितु समाज के लिये भी तत्कालीन समय में एक ऐसा नैतिक व्यवहार निर्देशित था जिसमें इस विचार धारा का प्रचार था कि सम्पत्ति का अधिकार चाहे जिसे प्राप्त हो किन्तु उसका उपभोग किसी एक व्यक्ति को केवल अपने लिये ही नहीं करना चाहिए। सम्पत्ति का उपभोग सभी के लिये समान रूप से करणीय है।[१] तत्कालीन समाज–व्यवस्था में वर्ण–व्यवस्था और आश्रम–व्यवस्था जिस रूप में प्रचलित थी उस व्यवस्था में गृहस्थ को देवताओं, मनुष्यों और पितरों का ऋण चुकाने के लिये अपने साधनों का व्यवहार करना होता था इसलिये वह सभी के लिये और सभी की प्रसन्नता के लिये अपनी सम्पत्ति का उपयोग करता था।[२] यदि हम उस समय की विचारधारा से यह ज्ञान कर सकते हैं कि उस समय की विचारधारा से यह ज्ञान कर सकते हैं कि उस समय सम्पत्ति के लिये यह कहा गया था कि सम्पत्ति किसी एक के पास होती हुयी भी अनेकों के लिये उपयोगी होना चाहिए तो ऐसा ही विचार भारत से इतर विचारकों में भी देखा जा सकता है। जैसे कि पाश्चात्य विचारक अरस्तू का यह सिद्धान्त दर्शनीय है जिसमें यह कहा गया है कि सम्पत्ति का होना अथवा न होना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है अपितु महत्त्वपूर्ण यह देखना है कि उसका उपभोग कैसे किया जाता है। अरस्तू का यह मत था कि भले ही सम्पत्ति का स्वामित्व व्यक्तिगत होवे किन्तु उसका उपभोग सार्वजनिक होना चाहिए।[३]

१. वा. रा. (अयो.) ४/१२–१४
२. वही (अयो.) १०६/२८
३. अ.रा., पृ. १४५–१४६

वाल्मीकि रामायण में सम्पत्ति की गणना चल—अचल तथा उभय रूप में की गयी है। वहाँ पर यद्यपि चल—अचल के रूप में सम्पत्ति का भेद नहीं दिखायी देता किन्तु खेत, मकान, दुकान, बाग—बगीचे, धन—धान्य, वस्त्र—आभूषण, रत्न, वाणिज्य वस्तुयें रथ आदि वाहन, गाय—बैल, ऊँट—घोड़े और हाथी सम्पत्ति के रूप में कहे गये हैं।[१] राजा और उसकी राजनीति के विषय में जब विचार किया जाता है तो वहाँ पर राज्य के सात अङ्गों की गणना की जाती है। महाभारत में आत्मा—अमात्य, कोश, दण्ड, मित्र, जनपद और पुर को राज्य के अङ्ग के रूप में माना गया है।[२] कौटिल्य ने स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड तथा मित्र को अङ्ग के रूप में कहा है।[३] एक विद्वान् यह लिखते हैं कि वैदिक समय में राजा, मन्त्री, पुर, राष्ट्र, सेना आदि का वर्णन है जिन्हें वैदिक कालीन राज्य के सात अङ्गों में स्वीकार किया जा सकता है।[४]

वाल्मीकि रामायण में यद्यपि इस प्रकार से राज्य के सात अङ्गों का वर्णन नहीं किया गया है किन्तु वहाँ पर राज्य की प्रकृति का कथन किया गया है।[५] इससे यह प्रतीति होती है कि तब के समय में भी राज्य के अङ्गों का ज्ञान किसी न किसी रूप में तो था ही; क्योंकि उस समय कोश की व्यवस्था का सङ्केत था। अर्थ की महत्ता का उल्लेख कई स्थानों पर वाल्मीकि रामायण में है। जैसे कि एक स्थान पर कहा गया है कि जिस तरह एक पर्वत से अनेक नदियाँ निकलती हैं उसी तरह अर्थ से अनेक क्रियायें सम्पादित होती हैं।[६]

---

१. वा.रा. (अयो.) ६७/१०; वही (बाल) ६/२८; वही ५/१०; वही ५/१२; वही (बाल) ६; वही (अयो.) ६/११; वही ५/१६; वही (अयो.) ६७/२२, वही ६७/१९—२०; वही (बाल) ६/७; वही ५/१३

२. म. भा. (शान्ति) ६९/६४—६५

३. अ. शा. ६/९६

४. वे. रा. व्य. पृ. ४८

५. वा. रा. (अयो.) १०६/२६

६. वही (युद्ध) ८३/३२

धन की महत्ता को वाल्मीकि रामायणकाल में उतना अधिक महत्त्व नहीं दिया गया जितना महत्त्व बाद के समय में दिया गया अथवा वर्तमान काल में दिया जाता है। राम के जीवन को लेकर जिस आदर्श चरित्र की कल्पना की गयी है उसमें स्वाभाविक है कि नैतिक महत्ता को अधिक महत्त्व दिया जाये और कोश को उतना अधिक महत्त्व न दिया जाये। यह तथ्य अवश्य उस समय देखने को मिलता है जिसमें राजा का धन देवताओं, पितरों, ब्राह्मणों, अभ्यागतों, योद्धाओं और मित्रों के लिये व्यय किया जाता था।[१] इसके अतिरिक्त राजा अपने कोश का सदुपयोग करता हुआ अपना धन ब्रह्मचारियों, ब्राह्मणों, बालकों, बृद्धों और राज्य के दीन–दु:खियों के लये सहायतार्थ दिया करता था। अयोध्या में श्रीराम ने एक बार अपने भाईयों को बुलाकर ब्राह्मणों को दान देने के लिये कहा था और यह कहा था कि जिस प्रकार मेघ जल की वर्षा के द्वारा कृषि को तृप्त करता है उसी प्रकार से दान देकर उन विद्वानों को तृप्त करना चाहिए। इसके साथ ही वहाँ पर मिलने वाले दास–दासी तथा उनके सेवक भी न्यूनता का अनुभव न करें इसलिये उन्हें भी यथोचित द्रव्य देकर सन्तुष्ट किया जाना चाहिए।[२]

जब राम अवध छोड़कर वन में जाने लगे थे तो उन्होंने अपना जितना धन था वह सभी अपने राज्य के ब्रह्मचारियों को देने का आदेश दिया था। उन्होंने लक्ष्मण से कहा था कि जो अनेक वैदिक शाखाओं के अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी हैं और अपने अध्ययन में संलग्न हैं उनके लिये रत्न, चावल आदि देकर उन्हें सन्तुष्ट करो।[३]

१. वा. रा. (अयो.) १००/५५
२. वही (अयो.) ३२/१३–१६
३. वही ३२/१८–२०

राजा के धन का कभी भी दुरुपयोग न हो और वह धन सदा ही उचित हाथों में जाये इसका सङ्केत भी वाल्मीकि रामायण में किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि कभी–भी किसी अवस्था में राजा की सम्पत्ति को ऐसे हाथों में नहीं जाना चाहिए जिससे उसका दुरुपयोग होता हो। चित्रकूट में भरत से उनका कुशल प्रश्न पूछते हुये श्रीराम ने यह भी पूछा था कि क्या तुम्हारी आय अधिक है और व्यय कम है और तुम्हारा धन कहीं अपात्र लोगों के हाथ में तो नहीं जाता। उन्होंने यह भी पूछा था कि भरत क्या तुम अपना कोश देवताओं, पितरों, ब्राह्मणों, अभ्यागतों, योद्धाओं और मित्रों के लिये ही खर्च करते हो।[1] इससे यह सङ्केत प्राप्त किया जा सकता है कि उस समय राजाओं के लिये नैतिक रूप से यह व्यवस्था थी कि उनका अर्थ किन्हीं ऐसे लोगों के हाथों में न जाये जो उसके लिये पात्र न हों और साथ ही राजा निरन्तर उन लोगों की सहायता करता रहे जो दुर्बल और निराश्रित हैं तथा अध्ययन में लगे हैं या कि किसी प्रतिष्ठित शास्त्र के विद्वान् हैं।

राज कार्य स्वाभाविक रूप से अर्थ के बिना नहीं चलता इसलिये राजा को राज्य सञ्चालन के लिये उसे यह अधिकार दिया गया था कि राजा प्रजा से जो कर रूप में प्राप्त करे उसे अपने जीवन में और राज्य के सञ्चालन में उपयोग करे। इसीलिये वैदिक समय में यह सिद्धान्त निरूपित किया गया था कि राजा प्रजा से बलि ग्रहण करने का अधिकारी है।[2] धीरे–धीरे उसका यह अधिकार कर के रूप में प्रवर्तित हुआ और वह प्रजा से कर प्राप्त करने लगा।[3]

---

१. आयस्ते विपुल: कच्चित् कच्चिदल्पतरो व्यय: ।
अपात्रेषु न ते कच्चित् कोषो गच्छति राघव ॥
देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च ॥
योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद् गच्छति ते व्यय: ॥ वा. रा. (अयो.) १००/५४–५५

२. ऋक् १०/१७३/६

३. अथर्व. ३/४/३

राजा प्रजा से कितना कर ले इसका नियमन तब हो गया था और यह निश्चित हो गया था कि उसके द्वारा प्रजा की आय का छठवाँ भाग प्राप्तव्य है।[१] प्रजा से राजा जो कर प्राप्त करता था उसके लिये भी उसे नैतिक दायित्व दिया गया था कि यह कर उसे एक प्रकार से वेतन के रूप में प्राप्त होता है जिससे उसकी जीविका चलती है। इस कारण से राजा प्रजा का एक प्रकार से दास है।[२]

राजा प्रजा से जिस अर्थ को प्राप्त करता था उसके बदले में वह इस कर्त्तव्य से बँध जाता था कि वह प्रजा की रक्षा करेगा। जो ऐसा नहीं करता था वह पाप का भागीदार बनता था।[३] इस क्रम में वाल्मीकि रामायण में यह कहा गया है कि जो राजा प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ होता है उसका कार्य अधर्म सम्मत भी माना गया है।[४] वाल्मीकि रामायण में ऐसे भी सङ्केत हैं कि प्रजा इस प्रकार के राजा का परित्याग कर दे जो उससे कर लेकर प्रजा का पालन न करता हो।[५]

इस रूप में जितने भी सङ्केत हैं वे राजा को नैतिक रूप से बाध्य करते थे कि वे प्रजा से अधिक धन प्राप्त न करें और जो धर्म कोष में सञ्चित है उसका उपयोग भी इस प्रकार से करें जिससे जो असहाय और निर्बल हैं उन्हें सहायता मिलती रहे। प्राचीन विचारकों ने और सामाजिक संरचना में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाले विद्वानों ने यह जोर देकर कहा कि जनता पर उचित स्थान पर उचित समय पर, उचित कर ही लगाया जाना चाहिए।

---

१. शु. नी. १/१८८

२. म. भा. (शान्ति) ७१/१०; म. स्मृ. ८/३०७; शु. नी. १/८८

३. वही (अयो.) ७५/२५

४. अधर्मः सुमहान् नाथ भवेत् तस्य तु भूपतेः ।
यो हरेद् बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत् ।। वही (अरण्य) ६/११

५. वही, ३३/५

प्रजा के प्रति राजा का इतना अधिक सत्य व्यवहार रहे कि कभी भी प्रजा यह अनुभव न कर सके कि राजा की ओर से उसका उत्पीड़न हो रहा है। इसलिए कर के विधान में भी यद्यपि राजा के द्वारा दुकानों, सड़कों, पशुओं, कारीगरों और शिल्पियों तथा अन्य कार्य करने वालों पर कर लगाए जाने का विधान था तथापि इसके साथ यह निर्देश भी था कि राजा जहाँ एक ओर व्यापारियों से कर वसूल करे, वहीं दूसरी ओर उसका दायित्व है कि वह व्यापारियों की सुरक्षा भी भली प्रकार से करे।[१] एक स्थान पर यह संकेत है कि किसी भी अवस्था में राजा प्रजा को कष्ट देकर कर का संग्रह न करे।[२]

इस रूप में यह कहना संगत होगा कि राजा की राजनीति का बहुत बड़ा आधार अर्थ नीति से सम्बद्ध था। राजा अपनी अर्थनीति से इस प्रकार का व्यवहार करता था जिससे प्रजा किसी प्रकार से पीड़ित न हो और न ही प्रजा का राजा के प्रति आदर भाव कम होवे।

....

१. वा. रा. (अयो.) १००/४७–४८
२. म. भा. (शान्ति) ७१/२०

पंचम अध्याय

(वाल्मीकि रामायण में धर्म नीति तथा आचार नीति)

पंचम अध्याय

(वाल्मीकि रामायण में धर्म नीति तथा आचार नीति)

धारण करने के अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग इस देश में प्राचीन समय से ही प्रचलित रहा है इसीलिये धर्म को धारण किये जाने के कारण ही धर्म कहा जाता है। मनुष्य का जीवन किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये हुआ है और इस प्रकार का विचार करते हुये यह माना गया है कि पुरुषार्थ की प्राप्ति मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ निर्धारित किये गये हैं जिन्हें व्यक्ति जीवन में प्राप्त करता था। वाल्मीकि रामायण में भी यह सङ्केतित किया गया है कि धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग की प्राप्ति मानव जीवन का उद्देश्य है।[१] महर्षि वाल्मीकि ने त्रिवर्ग में भी अर्थ और काम की अपेक्षा धर्म को अधिक महत्त्व दिया है। वाल्मीकि रामायण में एक विशेष दृष्टि यह भी देखने को प्राप्त होती है कि जो अपने जीवन में केवल अर्थ और काम के लिये ही प्रयत्नशील रहते हैं अथवा अपने श्रम से केवल अर्थ तथा काम की प्राप्ति करना चाहते हैं वे हीन होते हैं। महर्षि का स्पष्ट रूप से मन्तव्य है कि जो कोई अपने जीवन में सुख और शान्ति प्राप्त करना चाहता है उसे धर्म का ही आश्रय लेना चाहिए। वे यह निरूपित करते हैं कि धर्म से ही अर्थ प्रभावित होता है, धर्म से ही सुख की प्राप्ति होती है, इतना ही नहीं मनुष्य धर्म से सभी कुछ प्राप्त कर सकता है क्योंकि धर्म ही इस जगत् का सार है।[२]

१. वा.रा. (अयो.) २१/३०—३४

२. धर्मादर्थः प्रभवति धर्मार्थ प्रभवते सुखम् ।
धर्मेण लभते सर्व धर्मसारमिदं जगत् ।। वही (अरण्य) ९/३०

(अ) सामान्य वर्ग

अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र में आचार्य कौटिल्य ने धर्म की व्याख्या में यह सङ्केत किया है कि धर्म दो प्रकार का होता है। एक प्रकार का धर्म वह है जो सभी के लिये समान रूप से परिपालनीय होता है। इसमें अहिंसा, सत्य, शौच, अनुसूया और क्षमा आदि सम्मिलित हैं। इसे ही वे सामान्य धर्म के रूप में कहते हैं क्योंकि इन श्रेष्ठ वृत्तियों का परिपालन सभी कोई कर सकता है और सभी के द्वारा किये जाने के कारण ये सामान्य धर्म हैं।[१]

सामान्य धर्म के जिन इन गुणों का आख्यान यहाँ पर सङ्केतित है लगभग इसीप्रकार के गुणों का सङ्केत महर्षि मनु ने मनु स्मृति में धर्म अङ्गों का वर्णन करते हुये यह कहा है कि धृति, इन्द्रियों का दमन, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धीरता, विद्या, सत्य और अक्रोध धर्म के दस अङ्ग हैं।[२] हम यहाँ पर इसी तारतम्य में वाल्मीकि रामायण के दृष्टिकोण का प्रस्तुतीकरण कर सकते हैं जिसमें यह कहा गया है कि मनुष्य के लिये परिपालन करने योग्य धर्म दो प्रकार का होता है। एक धर्म वह है जो सामान्य धर्म है जिसका पालन करना सभी के लिये समान रूप से आवश्यक होता है। सामान्य धर्म के ऐसे अङ्गों में सत्य, दया और क्षमा आदि को सम्मिलित किया गया है और यह कहा गया हैं कि धर्म के इन अङ्गों के द्वारा तथा इनके परिपालन से मनुष्य का सम्पूर्ण विकास सम्भव होता है। इस रूप में वाल्मीकि रामायण का भी वही भाव है जो भाव आचार्य कौटिल्य का है और जिसमें कौटिल्य सामान्य धर्म का कथन करते हुये कहते हैं कि यह ऐसा धर्म है जिसका परिपालन सभी को करना चाहिए।

....

१. सर्वेषामहिंसासत्यं................................। कौ.अ.पृ. १४

२. धृतिक्षमादमोऽस्तेयं शौचनिन्द्रियनिग्रहः ।
धीरविद्यासत्यक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ।। मनु. स्मृ.

अहिंसा

सामान्य धर्म के अङ्गों में अहिंसा को एक महत्त्वपूर्ण धर्म के अङ्ग के रूप में देखा गया है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ पातञ्जल योग दर्शन में अहिंसा को योग के अष्टाङ्गों में एक प्रमुख अङ्ग के रूप में गिना है। किसी भी प्राणी की हिंसा न करना सामान्य रूप से अहिंसा है किन्तु इस सन्दर्भ में एक व्याख्या में यह निरूपित है कि शरीर, वाणी अथवा मन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि की मनोवृत्तियों के साथ किसी भी प्राणी को शारीरिक अथवा मानसिक रूप से दुःख पहुँचाना हिंसा है। इसके विपरीत मन, वाणी और कर्म से किसी भी जीव को किसी भी प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों के द्वारा पीड़ित न करना अहिंसा है। इस प्रकार से जो मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म होता है उसमें प्रतिष्ठित होकर व्यक्ति अहिंसक हो जाता है और ऐसी अहिंसा से सभी प्राणियों से उसका वैर छूट जाता है। यहीं अहिंसा धर्म का एक अङ्ग है।[१]

वाल्मीकि रामायण में हम यह देखते हैं कि इस महाकाव्य के प्रारम्भ में ही हिंसा की कारुणिक स्थिति को देखकर महर्षि वाल्मीकि के मन में शोक और क्षोभ हुआ था। इसी के वशीभूत होकर उन्होंने आकस्मिक रूप से इस महाकाव्य का सृजन किया था। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड में यह सन्दर्भ आया है कि एक बार महर्षि वाल्मीकि स्नान करने के लिये नदी के तट पर खड़े हुये थे, पास में ही एक वृक्ष की शाखा में क्रौञ्च पक्षी का जोड़ा बैठा था। उसी समय किसी बहेलिये ने नर पक्षी को बाण से वेध दिया जिससे क्रौञ्च पक्षिणी आर्तनाद करने लगी। पक्षी खून से लथपत होकर भूमि पर गिर गया और पक्षिणी यह देखकर विलाप करने लगी । महर्षि ने

१. पा.यो.प्र., पृ. ३८०–४२६

जब यह दृश्य देखा तो वे व्यथित हो उठे और उन्हें दु:ख के साथ करुणा का अनुभव हुआ। वे कहने लगे कि यह अधर्म हुआ अर्थात् हिंसा अधर्मकारक हुयी। यह सोचकर उन्होंने उस निषाद को कहा कि तुम्हें कभी शान्ति प्राप्त न हो क्योंकि तुमने इस क्रौञ्च जोड़े में से एक का वध कर दिया जबकि इसने किसी प्रकार का अपराध नहीं किया था।[१] यह कहकर ऋषि ने उसे शाप दिया। निषाद के द्वारा इस प्रकार से क्रौञ्च पक्षी का वध किया जाना और हिंसा की उस स्थिति को देखकर महर्षि का विचलित होना उस धर्म की ओर प्रेरित होना है जो हिंसा का विरोधी है। अर्थात् हिंसा के विपरीत अहिंसा ही वह भाव है जो व्यक्ति को धर्म के मार्ग पर प्रवृत्त करता है और इस रूप में अहिंसा धर्म का एक अङ्ग है।

अहिंसा के सन्दर्भ में कहीं पर स्पष्ट रूप से और कहीं पर सङ्केत रूप में और भी अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं जिसमें अहिंसा को एक धर्म के अङ्ग के रूप में माना गया है। श्रीराम की वनयात्रा के समय भरत जब राम को वन में बैठे हुये देखते हैं तो उसी के साथ वे यह भी देखते हैं कि वहाँ के मुनि धर्माचरण करते हुये केवल दो मृगों के चर्म धारण करते हैं और मृगों की हिंसा के द्वारा जो चर्म प्राप्त किये जाते थे उनमें न्यूनता दिखायी देती है। इस तरह से वहाँ पर धर्माचरण के रूप में अहिंसा सङ्केतित है।[२]

एक दूसरे सन्दर्भ में मुनियों के स्वरूप का कथन है जहाँ पर यह कहा गया है कि वे मुनि जगत् में पूज्य होते हैं जो धर्म का आचरण करते हैं सत् पुरुषों के साथ रहते हैं, तेज से सम्पन्न हैं और जिनमें दान देने का गुण विद्यमान हैं। ऐसे मुनि कभी–भी किसी प्राणी की हिंसा नहीं करते हैं और संसार के रागादि से दूर रहते हैं।[३]

१. ततः करुणवेदित्वाद धर्मोऽयमिति द्विजः।
निशम्य रुदतीं क्रौञ्चीमिदं वचनमब्रवीत् ।।
मा निषाद् प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।। वा.रा. (बा.) २/१४–१५

२. वही (अयो.) ९९/३२

३. वही (अयो.) १०९/३६

महर्षि वाल्मीकि ने राजाओं के कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया है। इस वर्णन में एक स्थान पर यह कहा गया है कि जिस प्रकार से यज्ञों में लाये गये निश्चेष्ट पशु बहुत अधिक मात्रा में अथवा जिनका वध नहीं किया जाना चाहिए जैसे वे वध करने योग्य नहीं होते उसी तरह से जो प्राणी निश्चेष्ट हैं और जिनके द्वारा कोई प्रतिक्रिया नहीं की जा रही हो उनका वध करना राजा के लिये निन्दित होती है।[१] इसका अभिप्राय यह है कि बिना किसी उद्देश्य के हिंसा उचित नहीं होता और सामान्य रूप से अहिंसा का पालन ही किया जाना चाहिए। एक दूसरा सन्दर्भ इस प्रकार का है जिसमें भगवान् श्रीराम ने बालि को सम्बोधित करते हुये यह कहा था कि राजा दुर्लभ धर्म का पालन करने वाले होते हैं। वे जीवन में लौकिक स्थितियों के अभ्युदय देने वाले होते हैं इसलिये किसी को भी उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। इसलिये जो श्रेष्ठ राजा हैं वे हिंसा के योग्य नहीं होते और अहिंसा धर्म का एक अङ्ग होती है।[२]

सत्य

धर्म के अङ्ग के रूप में सत्य की महत्ता को विस्तारपूर्वक कहा गया है और इसीलिये सत्य से बढ़कर किसी दूसरे धर्म को स्वीकार नहीं किया गया। वाल्मीकि रामायण का जब प्रारम्भ किया गया तो श्रीराम के चरित्र–वर्णन में इन्हीं सब गुणों का कथन किया गया। वहाँ पर यह कहा गया कि राजा धर्म के ज्ञाता हैं, ज्ञानी है, पवित्र हैं और जितेन्द्रिय हैं। इसी प्रकार से जब उनके पिता दशरथ का वर्णन किया गया तो उन्हें भी यह कहा गया कि वे भी सत्य का पालन करने वाले हैं और उन्होंने सत्य का पालन करते हुये ही अपने प्राणों का परित्याग किया था। श्रीराम का वर्णन करते

१. निश्चेष्टानां वधो राजन् कुत्सितो जगतीपतेः ।
कृतुमध्योपनीतानां पशूनामिव राघव ।। वा.रा. (अरण्य) ७०/६

२. वही (कि.) १८/४२

हुये यह कहा गया है कि वे धर्म के ज्ञाता और सत्य प्रतिज्ञ हैं।[१] कैकेयी ने जब अपने दो वरों के रूप में महाराज दशरथ से श्रीराम के वन जाने का वर मांगा था तो महाराज दशरथ ने यह वर इसी के कारण स्वीकार किया था क्योंकि वे अपनी सत्य बात का पालन करना चाहते थे। कैकेयी ने बार–बार दशरथ को यही कहा था कि आप प्रायः यह कहा करते थे कि मैं सत्यवादी हूँ और एक बार जो प्रतिज्ञा कर लेता हूँ उसका परित्याग नहीं करता। कैकेयी ने कहा था कि सत्य ही प्राण रूप ब्रह्म है, सत्य में ही धर्म स्थित है, सत्य ही अविनाशी वेद और सत्य से ही परब्रह्म की प्राप्ति होती है इसलिये जीवन में सत्य का पालन अवश्य करना चाहिए। क्योंकि यह धर्म का अङ्ग है।[२]

एक दूसरे स्थान पर नास्तिक मत के खण्डन में और आस्तिक मत के समर्थन में सत्य की स्थापना धर्म के रूप में विस्तारपूर्वक की गयी है। वहाँ पर यह कहा गया है कि राजा के लिये सत्य का पालन करना ही परम धर्म है। यही सनातन आचार है और सत्य के इसी रूप में सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित है। जो सत्यवादी मनुष्य होता है वह परम अक्षय धाम प्राप्त करता है। जो असत्य का भाषण करते हैं सारा संसार उनसे इस प्रकार से डरता है जैसे कोई सांप से डरता है, सत्य धर्म का मूल है और धर्म की पराकाष्ठा है। जगत् में सत्य ही ईश्वर है, सत्य के आधार पर ही धर्म की स्थिति रहती है, सत्य ही सबकी जड़ में है और सत्य से बढ़कर कोई दूसरा पद नहीं है। दान, यज्ञ, होम, तप और वेद इन सबका आधार सत्य ही है। इसलिये महर्षि वाल्मीकि ने सत्य

---

१. धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वस्याः समाधिमान् ।। वा.रा. (बाल.) १/१२

२. सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्येधर्मः प्रतिष्ठितः ।
सत्यमेवाकक्षया वेदाः सत्ये नावप्यते परम् ।।
आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः ।। वा.रा. (अयो.) १४/६–७

को सभी के लिये पालन करने योग्य बताया और उसे धर्म का एक अङ्ग माना।[1]

सत्य का धर्म के रूप में सङ्केत और भी अन्य स्थानों पर किया गया है। एक स्थान पर महारानी सीता ने श्रीराम के गुणों का वर्णन करते हुये उन्हें सत्य प्रतिज्ञ कहा है और यह कहा है कि वे सत्य को ही आश्रय देते हैं और सत्य का आश्रय लेकर ही अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करते हैं।[2] जब रावण सीता का हरण करके ले जा रहा था तो जटायु ने भी रावण को सम्बोधित किया था और यह कहा था कि तुम ऐसा निन्दित कर्म मत करो। मेरा नाम जटायु है और मैं सत्य प्रतिज्ञ हूँ अर्थात् मैं सत्य का पालन करता हूँ।[3] एक और ऐसा ही सङ्केत वहाँ पर दिया गया है जहाँ पर महाराज दशरथ का स्मरण रावण के यहाँ किया गया। वहाँ पर यह कहा गया है कि महाराज दशरथ धर्म के सेतु हैं और सत्यसन्ध हैं।[4]

१. सत्मेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम् ।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः ॥
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे ।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम् ॥
उद्विजन्ते यथा सपन्निरादनृतवादिनः ।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते ॥
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च ।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत् ॥ वा.रा. (अयो.) १०९/१०–१४

२. वही (अरण्य) ४७/३४

३. वही ५०/३

४. वही ५६/२

क्षमादि

धर्म के रूप में क्षमा, इन्द्रिय–निग्रह आदि को भी गिना गया है। क्षमा मनुष्य का एक ऐसा स्वभाव है जो उसे मनुष्यता प्रदान करता है और जिसका आचरण करता हुआ वह अपने प्रति दुर्व्यवहार किये जाने वाले के साथ भी किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं करता और न ही बदला लेने की वृत्ति से पीड़ित होता है। क्षमाशील व्यक्ति शान्तचित्त रहता है, किसी के साथ दुर्व्यवहार नहीं करता और सामान्य रूप से वह क्रोध के वशीभूत भी नहीं होता। इसीलिये क्षमा करने वालों में जब श्रेष्ठ क्षमा करने वालों का उदाहरण दिया गया है तो यह कहा गया है कि धरती सबसे बड़ी क्षमाकर्त्री है। यह कभी किसी के प्रति क्रोधित नहीं होती और न ही कभी किसी के प्रति किसी प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करती है इसीलिये यह क्षमाशील है और मातृवत् कही जाती है।

वाल्मीकि रामायण में श्रीराम के गुणों का वर्णन करते हुये उनकी गम्भीरता उनके धैर्य और उनकी क्षमाशीलता की चर्चा की गयी है। वहाँ पर यह कहा गया है कि श्रीराम अपनी माता के आनन्द को बढ़ाने वाले हैं, समुद्र के समान गम्भीर हैं और हिमालय के समान धैर्यवान् हैं। वे ऐसे पराक्रमी और वीर हैं कि उनका क्षमा का स्वभाव ऐसा है जैसे पृथ्वी क्षमा करने वाली है। इस प्रकार से राम क्षमारूपी धर्म के पालन करने वाले हैं और उनके व्यवहार से धर्म के इस क्षमा रूपी अङ्ग का प्रस्फुटन भी हुआ है।[1]

१. स च सर्वगुणोपेता कौशल्यानन्दवर्धनः ।
समुद्रइव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ।।
विष्णुनासदृशोवीर्ये सोमवतप्रियदर्शनः ।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथ्वी समः ।। वा.रा. (बाल.) १/१७–१८

एक अन्य स्थान में महाराज दशरथ की नगरी और उनके मन्त्रियों के वर्णन में यह कहा गया है कि महाराज दशरथ के जो मन्त्री थे वे भी क्षमा करने के स्वभाव वाले थे। इसलिये वाल्मीकि लिखते हैं कि वे मन्त्री कभी भी किसी की हिंसा नहीं कर सकते थे जिन्होंने किसी प्रकार का अपराध नहीं किया। उन्हें वे क्षमा कर देते थे।[१] इस रूप में मन्त्रियों के द्वारा क्षमा को धर्म के अङ्ग के रूप में पालन करते हुये बताया गया है। एक स्थान में क्षमा को बहुत अधिक महत्त्वशील बताया गया है। वहाँ पर यह कहा गया हैकि क्षमा दान है, क्षमा सत्य है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा यश है, क्षमा धर्म है और क्षमा पर ही यह सम्पूर्ण संसार टिका हुआ है।[२]

बालकाण्ड में एक अध्याय में वायुदेव और कुशनाभ की कन्याओं का सन्दर्भ दिया गया है। वायु ने कुशनाभ की कन्याओं का वरण करना चाहा जिसके उत्तर में उन कन्याओं ने यह कहा कि हम अपने पिता के अधीन हैं। वे हमारा वरण जिसके साथ करेंगे हम उन्हें ही पति के रूप में प्राप्त करेंगी। वायु ने इसके फलस्वरूप उन कन्याओं को विकृत कर दिया जिससे वायु विकार होने से उन कन्याओं के सभी अङ्ग टेढ़े हो गये यह देखकर वे दु:खी हो गयीं और उन्होंने अपने पिता को यह सब बात कहीं। उन्होंने कहा कि हम यदि चाहतीं तो वायु को दण्ड दे सकतीं थीं और उन्हें श्राप देकर उनका बदला ले सकती थीं किन्तु हमने ऐसा नहीं किया। यह सुनकर राजा कुशनाभ ने उन कन्याओं की प्रशंसा की और कहा कि तुमने ऐसा कार्य किया है जो कोई क्षमाशील व्यक्ति ही कर सकता है। जिसके मन में क्षमा नहीं है वह ऐसा कार्य नहीं कर सकता। यह कहते हुये राजा कुशनाभ ने न केवल उनकी प्रशंसा की अपितु कहा कि

१. वही ७/११

२. क्षमादानं क्षमासत्यं क्षमायज्ञाश्च पुत्रिका:।
क्षमायश: क्षमाधर्म क्षमायां विष्ठित: जगत् ।। वही ३३/८

चाहे कोई स्त्री हो अथवा पुरुष सभी के लिये क्षमा परम आभूषण है। उन्होंने कहा कि तुमने जैसा आचरण किया है वह आचरण देवताओं के लिये भी वन्दनीय है। क्योंकि क्षमा एक ऐसा धर्म का अङ्ग है जो महत्त्वपूर्ण है।[१]

धर्म का मर्म गहन है और इसमें सत्य और क्षमा आदि की गणना की गयी है। वहीं इन्द्रिय—निग्रह को भी धर्म का एक अङ्ग कहा गया है। वाल्मीकि रामायण में अनेक व्यक्तियों के चरित्रों का वर्णन है जिन्होंने अपने जीवन व्यवहार में इन्द्रिय निग्रह को महत्त्व दिया। वायु के द्वारा कामेच्छा होने पर जब राजा कुशनाभ की पुत्रियों ने उनके प्रस्ताव को ठुकरा दिया था तो यह उनका इन्द्रिय—निग्रह का स्वभाव ही था। इसी तरह से जब वाल्मीकि रामायण में श्रीराम के स्वभाव का वर्णन किया गया है तो वहाँ पर यह कहा गया है कि वे सभी प्रजा के लिये कमनीय हैं, मनुष्यों को आनन्द देने वाले हैं और अपने इन्द्रिय—संयम के गुण से समाज में वैसे ही सुशोभित होते हैं जैसे सूर्य आकाश मण्डल में भ्रमण करता हुआ सुशोभित होता है।[२]

इस रूप में वाल्मीकि रामायण में सामान्य धर्म के रूप में कहे गये उन सभी अङ्गों को किसी न किसी रूप में सङ्केतित किया गया है जिनसे संयुक्त होकर धर्म परिपूर्णता को प्राप्त होता है। धर्म के ये अङ्ग सभी सामान्य जनों के लिये होने के कारण सामान्य धर्म के रूप में कहे गये हैं।

---

१. क्षान्तं क्षमावतां पुण्यः कर्तव्यं सुमहत् कृतम् ।
एकेमत्यमुपागम्य कुलं चावेक्षितं मम ॥
अलंकारो हि नारीणां क्षमा तु पुरुषस्य वा ।
दुष्करं तच्च वै क्षान्तं त्रिदशेषु विशेषतः ॥ वा.रा. (बाल.) ३३/६—७

२. दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसञ्जननैर्नृणाम् ।
गुणैर्विरोचते रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥ वा.रा. (अयो.) २/४७

(ब) विशेष धर्म

सामान्य धर्म के रूप में जहाँ धर्म के उन अङ्गों का कथन किया गया है जो सामान्य रूप से सभी के लिये पालनीय हैं, वहीं विशेष धर्म के रूप में वाल्मीकि रामायण में भी वर्ण धर्म और आश्रम धर्म को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रतिपादित किया गया है। जब वाल्मीकि रामायण में वर्ण धर्मों का कथन किया गया है तो वहाँ पर यह कहा गया है कि सभी वर्णों के लिये अपने अपने निर्धारित कर्तव्य हैं और यही कर्तव्य उनके धर्म भी है। वर्ण विशेष के लिये क्योंकि पृथक्–पृथक् कर्तव्य हैं इसलिये ये कर्तव्य विशेष धर्म के रूप में भी कहे गये हैं। संस्कृत लौकिक परम्परा का यह महाकाव्य ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण अपने से पूर्व प्रचलित परम्परा का आश्रय लिये हुये है। इस महाकाव्य की रचना के पूर्व भारतीय समाज में चारों वर्णों की स्थापना हो चुकी थी। सामाजिक व्यवस्था भली प्रकार से बनी रहे और सभी अपने लिये निर्धारित कर्तव्यों का पालन करते रहें एतदर्थ ही वर्ण व्यवस्था की संकल्पना हुयी थी। इस व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सम्मिलित थे। व्यक्तिगत रूप से और सामाजिक रूप से वे सभी अपने हितों की रक्षा के साथ–साथ दूसरे के हितों का ध्यान भी रखते थे तथा जिसके लिये जो कर्तव्य निर्धारित होते थे उनका पालन करते थे। सभी अपने लिये कर्तव्यों का पालन करते हुये उन्हें अपना–अपना धर्म मानते थे इसलिये कोई भी यह अनुभव नहीं करता था कि उसका कार्य श्रेष्ठ हैं और दूसरे का कार्य निम्न कोटि का है। इस दृष्टि में अपने–अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने के लिये सभी तत्पर थे और समाज में यदि ब्राह्मण का कर्तव्य श्रेष्ठ था तो शूद्र का कर्तव्य भी न्यून रूप में नहीं आका जाता था। समय–समय पर सभी के कर्तव्यों की सराहना होती थी और सभी को समान रूप से महत्त्व दिया जाता था।

वर्ण धर्म के निरूपण में वाल्मीकि रामायण स्पष्ट रूप से चारों वर्णों के कर्तव्यों का कथन करती है। महाराज दशरथ की नगरी अयोध्या एक ऐसी नगरी है जो न केवल आर्थिक रूप से सम्पन्न और सक्षम है अपितु वहाँ के निवासी भी अपने–अपने धर्म का पालन करते हैं। यह धर्म और कुछ नहीं है केवल सभी वर्णों के द्वारा किये जा रहे वे कर्तव्य हैं जिन्हें वे सम्पादित करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी अयोध्या में निवास कर रहे हैं और सभी इतने सजग हैं कि वे अपने लिये निर्धारित कर्तव्यों का पालन भी कर रहे हैं।[१] महर्षि व्यास ने महाभारत में भी इसी प्रकार का सङ्केत किया था जिसमें उन्होंने यह निरूपित किया था कि सभी वर्णों की उत्पत्ति यद्यपि ईश्वर के शरीर से हुयी है तथापि सभी के लिये निर्धारित कर्तव्य पृथक्–पृथक् होते हैं। वहाँ पर भी वर्णों के कर्तव्यों को उनके धर्म के रूप में ही देखा गया है।[२]

वाल्मीकि ब्राह्मणों के लिये यह निर्देश करते हैं कि ब्राह्मण का कर्तव्य है कि उसे वेद–वेदाङ्गों का ज्ञान हो, उसने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया हो तथा दान देने में उसकी प्रवृत्ति हो। ब्राह्मण को चाहिए कि वह कभी भी असत्यका भाषण न करे और स्वाध्याय में निरत रहे। ब्राह्मणके लिये बार–बार कहा गया है कि वह किसी अवस्था में असत्य का भाषण न करे और न ही कोई ऐसा आचरण करे जो ब्राह्मणत्व के अनुकूल न हो।[३] तब ब्राह्मण अपनी जीविका के लिये दान पर ही निर्भर रहता था। जो वन में फलमूल प्राप्त होता था उससे सन्तुष्ट रहकर ब्राह्मण अपना समय यापन करता था। वह ब्राह्मण की जीविका भी थी और उसके लिये कर्तव्य भी था जो धर्म के रूप में कहा गया है।

---

१. वा. रा. (अयो.) १००/४१

२. म. भा. (आदि) ८१/२०

३. वा. रा. (बाल) ६/१३–१५

उत्पत्ति के क्रम में ब्राह्मणों के पश्चात् क्षत्रियों का नाम लिया जाता है। महर्षि वाल्मीकि ने यह सङ्केत किया है कि कश्यप के हृदय से क्षत्रिय उत्पन्न हुये। क्षत्रियों के लिये जिन कर्तव्यों का कथन किया गया है उनमें महत्त्वपूर्ण यह है। क्षत्रिय जैसे ही राज्य पर अभिषेक प्राप्त करे वैसे ही वह यह व्रत ले कि वह अपनी प्रजा का पालन करेगा। वाल्मीकि रामायण एक स्थान पर कहती है कि ऐसा कौन सा क्षत्रिय होगा जो प्रत्यक्ष सुख के साधनभूत प्रजा पालन रूप धर्म का परित्याग करके किसी अन्य धर्म का अनुसरण करेगा। अर्थात् क्षत्रिय वही है तथा उसका प्रमुखतम धर्म वही है कि वह प्रजा का पालन महत्त्वपूर्ण रीति से करे।[1] क्षत्रिय को चाहिए कि वह कभी भी दीन भाव वाला न हो और न ही किसी के आगे याचना के लिये हाथ फैलाये। क्षत्रिय का कर्म है दान देना और कभी भी किसी से कुछ न लेना। श्रीराम के चरित्र के एक वर्णन में यह सन्दर्भ आया है जिसमें उन्होंने निषादराज के द्वारा भेजे गये उपहार रूप पदार्थों को ग्रहण नहीं किया था और क्षत्रिय धर्म का स्मरण करते हुये निषादराज से कहा था कि मित्र! क्षत्रिय का धर्म ऐसा है जिसमें उसे कभी भी किसी से कुछ लेना नहीं चाहिए। क्षत्रिय को चाहिए कि वह सदा—सर्वदा सभी को कुछ न कुछ देता ही रहे किन्तु बदले में कभी भी किसी से कुछ न ले। इस रूप में क्षत्रिय को दान देना चाहिए यही उसका परम धर्म है।

१. एष हि प्रथमो धर्मः क्षत्रियस्याभिसेचनम् ।
येन शक्यं महाप्राज्ञ प्रजानां परिपालनम् ।। वा.रा. (अयो.) १०६/१९

क्षत्रिय के कर्तव्यों में शस्त्र धारण करना एक प्रमुख कर्तव्य था किन्तु इसी के साथ–साथ उनके द्वारा शस्त्र धारण किया जाना किसी की हिंसा के लिये नहीं था। उनका शस्त्र केवल इसलिये था कि वे अन्याय करने वाले को दण्ड दें और जो भी कोई दुःखी है उसके दुःख हरण का उपाय करें। इसीलिये बनवास के समय में जब श्रीराम दण्डकारण्य पहुँचे थे तो वहाँ पर उन्होंने देखा था कि वहाँ के निवासी मुनि बहुत व्यथित हैं। उनके शरणागत वत्सल होने पर श्रीराम ने उनकी रक्षा का व्रत लिया था और यह कहा था कि वे सभी अब से निर्भय हो जायें।[१]

वीरता का स्वभाव क्षत्रिय का सहज स्वभाव है किन्तु उनकी यह वीरता तभी उनके धर्म के रूप में गिनी जाती थी जब वह लोक कल्याणकारी होती थी। क्षत्रिय के लिये यह निर्देश था कि वह ब्राह्मणों की रक्षा करे, गायों का पालन करे और ऋषि मुनियों की समाज हित में जो भी आज्ञा हो उसका उल्लंघन किसी भी रूप में न करे। जो क्षत्रिय अपने कर्तव्य रूप धर्म का पालन नहीं करते थे उन्हें समाज में निन्दनीय माना जाता था। क्षत्रिय के कर्तव्यों में इन्द्रिय–निग्रह, धैर्य रखना, सत्यवादी होना, जो अपराधी है उसको दण्ड देना और सत्य का पालन करना निहित था। इसीलिये यह कहा गया है कि साम, दाम, दान, क्षमा, धर्म, धृति, पराक्रम और अपराधियों को दण्ड देना ये राजाओं के गुण हैं। राजाओं को चाहिए कि वे कभी भी किसी अवस्था में इनका परित्याग न करें।[२] जो राजा इन गुण रूपी कर्तव्यों का पालन नहीं करता था, वह क्षत्रिय कहलाने का अधिकारी नहीं होता था और उसकी निन्दा सर्वत्र की जाती है।

१. वा. रा. (अरण्य) १०/३–४

२. नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहाग्रहावति ।
राजावृत्तिरसंकीर्णः न नृपाः कामवृत्तयः ।। वा. रा. (कि.) १७/३२

वैश्य वर्ण एक ऐसा महत्त्वपूर्ण वर्ण है जिसकी जीविका के साधनों पर पूरे समाज का दायित्व होता था। वैश्यों के लिये भी वाल्मीकि रामायण में यत्र–तत्र सङ्केत हैं और उनके लिये निर्धारित कर्तव्यों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। एक स्थान पर वैश्यों के लिये सङ्केत करते हुये यह कहा गया है कि जो कृषि कार्य करता है और व्यापार का सम्पादन करता है वह वैश्य कर्म करने वाला माना जाता है। जो इन कार्यों को करते थे अर्थात् जो कृषि कार्य करते थे अथवा गो रक्षा आदि से अपनी जीविका चलाते थे वे सुखी थे और सम्पन्न थे।[१]

दूसरे अन्य स्थानों पर भी इस प्रकार के सङ्केत हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि समाज की आर्थिक गतिविधियाँ उन्हीं के पास अधिकतम मात्रा में थीं जिन्हें वैश्य के नाम से जाना जाता था। इस रूप में वे वह सभी कार्य करते थे जो कार्य अर्थ के आधार होते थे किन्तु तब यह अवश्य सङ्केतित किया गया था कि वैश्य अपने द्वारा अर्जित अर्थ केवल अपने लिये ही उपयोग में नहीं लायेगा अपितु वह अपनी आर्थिक सम्पन्नता से समाज को सम बल प्रदान करेगा। इस दृष्टि से वहाँ पर यह भी कथन है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय यदि बौद्धिक तथा शारीरिक शक्ति से समाज को सम बल प्रदान करते थे तो वैश्यों के द्वारा समाज को आर्थिक सम्बल दिया जाता था इसलिये वह महत्त्वपूर्ण था। इन वर्णों के अतिरिक्त समाज में जो थे वे शूद्र वर्ण के थे और उनके लिये भी उनके कर्तव्यों का कथन किया गया था। शूद्र अन्य त्रिवर्णों के साथ मिलकर जो कार्य करते थे और जिससे समाज सम्मुन्नत होता था वह शूद्रों के लिये उनका धर्म था। इस रूप में वाल्मीकि रामायण में सभी वर्णों के कर्तव्य रूप वर्णों का कथन किया गया है।[२]

१. वा. रा. (अयो.) १००/४७

२. वा. रा. (उत्तर) ७४/२१

(स) आश्रम धर्म

इस धरती पर जितने भी प्रकार के जीवों ने जन्म लिया है उनमें से मनुष्य एकमात्र ऐसा प्राणी है जो विचारशील और विवेकशील है। इसलिये प्रारम्भिक समय से ही यह विचार किया जाता रहा है कि मनुष्य ऐसा जीवन जिये जिसमें उसका जीवन व्यवस्थित रहे और वह अपने सम्पूर्ण जीवन में विधिपूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन कर सके। इस दृष्टि से यह निर्धारित किया गया था कि जिस मनुष्य के लिये सौ वर्ष का समय निहित है वह अपने पूरे समय का उपयोग भली प्रकार से करे और अपने जीवन का संयोजन इस तरह से करे जिससे कि उसका यह लोक और परमार्थ का लोक सुधर सके। इसके लिये किसी विचारक ने यह लिखा भी है कि यदि किसी ने अपने जीवन के प्रथम भाग में विद्याध्ययन नहीं किया दूसरे भाग में धनार्जन नहीं किया, तृतीय भाग मे तप अर्जित नहीं किया तो भला वह जीवन के चतुर्थ भाग में क्या कर सकेगा।[१]

इस दृष्टि से व्यक्ति का जीवन सार्थक हो और वह अपने जीवन को भली प्रकार विभाजित करके उसका उचित उपयोग कर सके इस दृष्टि से तब की परम्परा में मनुष्य जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया गया था। ये आश्रम थे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्थ। पूरे जीवन की सौ वर्ष की कल्पना करने के बाद प्रथम पच्चीस वर्ष में विद्यार्थी के लिये अध्ययन–अध्यापन का निर्देश था। इस जीवन में वह ब्रह्मचर्य का पालन करता था और इसलिये इसे ब्रह्मचर्य आश्रम कहा जाता था। ब्रह्मचर्य आश्रम पूरा करने के पश्चात् ब्रह्मचारी गृहस्थ धर्म में प्रवेश करता था और उसके लिये जो गृहकर्म होते थे उन्हें सम्पादित करता हुआ गृहस्थ धर्म का सम्पादन करता था। इसके बाद गृहस्थ धर्म का परित्याग करके व्यक्ति वानप्रस्थ जीवन जीता हुआ अरण्यवासी हो जाता था और अन्त मे संन्यासी होकर मुक्ति की कामना में शेष जीवन व्यतीत करता था।

---

१. प्रथमे नार्जिताविद्या द्वितीये नार्जितं धनम् ।
तृतीये नार्जितं तपः चतुर्थे किं करिष्यति ।। स्फुट

महर्षि वाल्मीकि ने भी अपने इस महाकाव्य वाल्मीकि रामायण में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का सङ्केत किया है। उन्होंने एक स्थान पर यह लिखा है कि व्यक्ति अपने जीवन में इन चारों आश्रमों में रहता हुआ आश्रम धर्म का पालन कर अपना जीवन व्यतीत करे। यद्यपि महर्षि वाल्मीकि के द्वारा इन आश्रमों का वर्णन किसी क्रम के निर्देश से नहीं हुआ फिर भी ब्रह्मचारी के लिये जो निर्देश किया गया है उसमें यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी अपने घर से जाकर गुरुकुल में अध्ययन करे और यथासमय गुरु आश्रम में ही रहे। वहाँ रहकर वह आचार्य के अनुशासन का पालन करे और अधिक से अधिक रूप में आचार्य की सेवा में निरत रहे।[१] ब्रह्मचर्य के रूप का वर्णन करते हुये महर्षि वाल्मीकि ने दो तरह के ब्रह्मचारियों का सङ्केत किया है। एक प्रकार का ब्रह्मचारी उसे कहा गया है जो आचार्य आश्रम में रहता हुआ दण्ड मेखला आदि धारण करता था और अध्ययन के उद्देश्य से आचार्य आश्रम में निवास करता था। दूसरे प्रकार का ब्रह्मचारी वह भी होता था जो ऋतु काल के अतिरिक्त पत्नी के सम्पर्क से दूर रहता था। इन दोनों प्रकार के आचारों का पालन ब्राह्मण सदा करते रहे हैं और ऋषिगण भी इसी प्रकार का जीवन व्यतीत करते हुये ब्रह्मचर्य आश्रम के निवासी रहे हैं। ब्रह्मचर्य का जो आश्रम था उसमें मुख्य रूप से विद्याध्ययन करना, आचार्य के अनुशासन में रहना और यथासम्भव आचार्य की सेवा करके अपना समय व्यतीत करना होता था। इस रूप में जो ब्रह्मचारी के कर्तव्य थे उन्हें आवश्यक रूप से पालन करने के लिये कहा जाता था क्योंकि ब्रह्मचारी के लिये निर्धारित कर्तव्य उसके लिये धर्म जैसे थे इसीलिये यह आवश्यक होता था कि ब्रह्मचारी अपने कर्तव्यों का पालन धर्म मानकर करे।

१. वा. रा. (बाल) २/७–६

पूर्व परम्परा का अनुपालन करते हुये महर्षि वाल्मीकि ने गृहस्थ आश्रम के लिये भी उन्हीं सिद्धान्तों का निरूपण किया है जिन सिद्धान्तों का कथन आचार्य के पहले भी किया जाता रहा है। महर्षि वाल्मीकि ने यह सङ्केतित किया है कि जब कोई ब्रह्मचारी अपनी विद्या पूरी कर लेता था तब वह अपने आचार्य से अनुमति लेकर गृहस्थ बनता था। वही उसका गृहस्थ आश्रम था जहाँ वह एक ओर पत्नी के साथ रहकर धर्म का आचरण करता था दूसरी ओर वह देवताओं, ऋषियों और पितरों के प्रति भी अपेन कर्तव्य का पालन करता था। यह मान्यता बहुत पहले से रही है कि जन्म से ही व्यक्ति कुछ ऋणों से ऋणी रहता है। इन ऋणों में देव ऋण, पितृ ऋण और आचार्य ऋण को कहा गया है। वाल्मीकि रामायण में पाँच ऋणों की चर्चा है। महर्षि वाल्मीकि ने व्यक्ति के जीवन में इन पाँच ऋणों की गणना करायी है जिनमें देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण और विप्र ऋण आदि कहे गये हैं।[१] इसका अभिप्राय यह होता था कि गृहस्थ अपने गृह धर्म का पालन करता हुआ अपने लिये निर्धारित कर्तव्य का पालन करता था क्योंकि मान्यता यह थी कि इस आश्रम को अन्य दूसरे आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठता प्राप्त है। वाल्मीकि रामायण में गृहस्थों के लिये जो कर्तव्य उल्लिखित हैं उनमें प्रथम कर्तव्य यह है कि वह पत्नी के साथ रहता हुआ श्राद्ध करे, पूजा करे, अतिथि सेवा करे और न्यायोचित श्रम से धनार्जन करता हुआ अपनी कामनाओं की पूर्ति करे। वह कभी भी कोई ऐसा कार्य न करे जिससे मर्यादा का उल्लंघन होता हो। श्रीराम के चरित्र के माध्यम से यह निर्देशित है कि गृहस्थ के लिये अपने माता–पिता की आज्ञा का पालन करना परम धर्म है इसलिये जो भी गृहस्थ धर्म में प्रवृत्त है वह अन्य सभी कार्यों का सम्पादन करता हुआ अपने माता–पिता की आज्ञा का पालन आवश्यक रूप से करे।[२]

१. वा. रा. (अयो.) ४/१४

२. वा. रा. (अयो.) ३०/३५

गृहस्थ आश्रम में रहते हुये जब व्यक्ति की आयु बढ़ने लगे और उसकी इन्द्रियाँ शिथिल होने लगे तब उसे चाहिए कि वह अपे जीवन में शान्ति प्राप्त करने के लिये गृहस्थ आश्रम का परित्याग करके वन में रहने की व्यवस्था करे। वहाँ जाकर उसके मन में लौकिक कामनायें न होवें और वह उस जीवन को सुखी और शान्त करने का प्रयत्न करे जिसे पारलौकिक जीवन कहते हैं। ऐसा जीवन जीने के लिये वह वानप्रस्थ आश्रम का वर्णन करे, यह निर्देश प्राचीन परम्परा में दिया गया है। इस प्रकार का मन्तव्य व्यक्त करते हुये एक विद्वान् अपना यह अभिमत देते हैं कि व्यक्ति जब सांसारिक दायित्वों को पूरा कर ले तब वह शान्तिपूर्वक जीवन जीने की इच्छा करे और आध्यात्मिक वातावरण का आश्रय लेकर वानप्रस्थ आश्रम में निवास करे।[१]

महर्षि वाल्मीकि ने वाल्मीकि रामायण महाकाव्य में अनेक ऐसे सन्दर्भ दिये हैं जिनसे यह ज्ञात होता हैं कि तत्कालीन समय में व्यक्ति गृहस्थ आश्रमों का दायित्व पूरा करने के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते थे। स्वयं महाराज दशरथ ने जब यह देख लिया था कि उनके पुत्र इस रूप में सक्षम हो गये हैं कि वे राज्य कार्य सञ्चालित कर सकते हैं तो उन्होंने यह चाहा था कि वे राम को अपना उत्तराधिकारी बना देवें और स्वयं सांसारिक कार्यों के दायित्व से मुक्त होकर अपना जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत करें। ऐसा विचार करते हुये उन्होंने श्रीराम से कहा था कि मैंने साठ हजार वर्षों तक राज्य का कार्य सम्पादित किया है। अब मैं बृद्ध हो चला हूँ और मेरा शरीर कार्य करने की अवस्था में नहीं है। उन्होंने कहा था कि मैं श्रमित हो गया हूँ और अब विश्राम करने की इच्छा कर रहा हूँ। अब यह सम्भव नहीं है कि मैं किसी भी प्रकार से संसार के कार्यों का भार वहन करूँ। इसलिये

१. ध. इ., पृ. २६६

तुम युवराज पद ग्रहण करो।[1] एक दूसरा सन्दर्भ इस प्रकार का भी है जिसमें महाराज अंशुमान ने अपने राज्य का उत्तराधिकार अपने पुत्र को देना चाहा था। वे एक धर्मवान् राजा थे। प्रतापी राजा के रूप में उनकी ख्याति थी। वाल्मीकि रामायण में उनके विषय में यह कहा गया है कि जब उनका गृहस्थ आश्रम पूरा हुआ और वे गृहस्थ धर्म से निवृत्त हुये तो उन्होंने यह चाहा कि वे अपना राज्यकाल अपने पुत्र दिलीप को सौंप दें। अपने गृहस्थ आश्रम के कर्तव्यों की पूर्णता के बाद उन्होंने अपने पुत्र दिलीप को अपने राज्य का उत्तराधिकार दे दिया था और स्वयं पर्वतों की ओर जाकर तपस्या करने लगे थे। वानप्रस्थ आश्रम में निवास करते हुये महाराज अंशुमान ने ३२ हजार वर्ष तक तपस्या की थी और इसके पश्चात् वे स्वर्गवासी हुये थे।[2]

वन की यात्रा में जब श्रीराम अगस्त्य मुनि के आश्रम में गये थे तो उन्होंने वहाँ पर ऐसा दृश्य देखा था जिसमें वानप्रस्थ आश्रम में रहने वालों के अनुकूल सामग्री सभी ओर बिखरी दिखायी देती थी। कहीं पर हवन करने योग्य लकड़ियाँ थीं तो कहीं पर आश्रम में किये जाते हुये हवन से धुआँ उठ रहा था और गगन मण्डल में छा रहा था। चारों दिशाओं से ऋषिगण आते थे, वे पवित्र सरोवरों से स्नान करके वहाँ का जल लाते थे और अनेक प्रकार के पुष्पों से देवताओं का पूजन करते थे। वन में निवास करते हुये वे ऋषिगण फलमूल का आहार करके तपस्या करते थे और उस तपस्या का चतुर्थांश प्रजा के लिये प्रदान करते थे। उस आश्रम में रहते हुये जिन कर्तव्यों का वर्णन वाल्मीकि रामायण में है उन कर्तव्यों में यह कहा गया है कि वे सांसारिक लाभों से निरपेक्ष होकर तपस्या करें, वन में प्राप्त होने वाले कन्दमूलों से अपना आहार प्राप्त करें और शान्ति का जीवन जियें।[3]

१. वा. रा. (अयो.) २/८

२. वा. रा. (बाल) ४२/३–४

३. वा. रा. (अरण्य) ६/१५

जीवन का चतुर्थ भाग तब इसलिये होता था कि व्यक्ति संसार के मोह बन्धन से छूट सके और मुक्ति का आकांक्षी होकर जीवन को पूर्ण करे। यह व्यक्ति का चतुर्थ आश्रम होता था और इसे तब संन्यास आश्रम के रूप में जाना जाता था। वाल्मीकि रामायण में यद्यपि संन्यास आश्रम का वर्णन विधिपूर्वक तो प्राप्त नहीं होता किन्तु वैखानस नाम के कुछ संन्यासियों का वर्णन वहाँ पर प्राप्त होता है। वे संन्यासी तपोनिष्ठ थे और पञ्चाग्नि तपा करते थे। वे सभी ब्रह्मतेज से सम्पन्न थे और उन्होंने इस प्रकार का योगाभ्यास किया था जिससे उनका चित्त एकाग्र हो गया। इस रूप में जिन ऋषियों का वर्णन है उनके विषय में यह लिखा गया है कि वे सूर्य और चन्द्रमा की किरणों का पान करके कभी—कभी जल में खड़े होकर तपस्या करते थे और निरन्तर सत्कर्मों में प्रवृत्त रहते थे। उनके विषय में यह भी कहा गया है कि वे कभी—कभी जल पीकर रह जाते थे और कभी—कभी वायु का भक्षण करके अपना समय व्यतीत करते थे। उनका जीवन इतना कठोर होता था कि वे आकाश के नीचे खुले में रहते थे और भूमि में शयन करके ही समय यापित करते थे। कुछ विरक्त इस प्रकार के होते थे जिन्हें ऊर्ध्वसंन्यासी कहा जाता था और जो ऊँचे—ऊँचे पर्वतों में रहकर उनकी गुफाओं में तपस्या करते थे। कुछ तपस्वी ऐसे थे जो गीले वस्त्र पहनकर जप आदि कार्य सम्पन्न करते थे और हर तरह से अपनी इन्द्रियों का दमन करते थे।[२]

इस रूप में सभी आश्रमों के लिये वाल्मीकि रामायण में सङ्केत प्राप्त हैं और सभी के लिये उनके कर्तव्यों का निरूपण किया गया है। इन कर्तव्यों के लिये वहाँ पर यह कहा गया है कि ये सभी कर्म तद्—तद् आश्रमों में निवास करने वालों के धर्म हैं इसलिये जो इनका सम्पादन विधिपूर्वक करता है वही धर्म को धारण करने वाला होता है।

१. वा. रा. (अरण्य) ६/१५
२. वा. रा. (अरण्य) षष्ठ वर्ग में टिप्पणी

(द) लोक धर्म तथा परलोक धर्म

मनुष्य के लिये कर्म की अनिवार्यता और कर्म से फल प्राप्त करने का विधान प्राय: भारतीय परम्परा में स्वीकृत है। इस परम्परा में यह माना जाता है कि जो जैसा कर्म करता है वह उसी प्रकार का फल भी प्राप्त करता है। यह कर्म इसी लोक में किया जा सकता है जिसका फल इसी लोक में प्राप्त होता है अथवा परलोक में प्राप्त किया जाता है। इसलिये लोक में किये जाने वाले जो कर्तव्य रूप धर्म हैं वे लोक धर्म कहे जाते हैं और जो धर्म लोकोत्तर होते हैं वे लोकोत्तर धर्म कहे जाते हैं और जो धर्म लोकोत्तर होते हैं अर्थात् जिनसे स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है उन्हें परलोक धर्म कहा जाता है। वाल्मीकि रामायण में लोक और परलोक दोनों प्रकार के धर्मों का कथन किया गया है। बालकाण्ड में श्रीराम कथा का उपक्रम करते हुये जब यह देखा गया कि रावण आदि राक्षस लोक को कष्ट दे रहा है तो सभी देवता एकत्रित होकर भगवान् विष्णु के पास पहुँचते हैं और सभी उनसे प्रार्थना करते हैं कि महाराज! इस समय रावण के अन्याय से त्रैलोक्य कम्पित है। हम सभी यह चाहते हैं कि इन तीनों लोकों के लोग कष्ट से मुक्ति पायें और एतदर्थ आप इन देवद्रोहियों का वध करने के लिये मनुष्य लोक में अवतार लेवें। भगवान् विष्णु ने लोकहित की भावना से किये गये इस प्रस्ताव को स्वीकार किया और देवताओं से कहा कि मैं लोक कल्याण के लिये ग्यारह हजार वर्ष तक पृथ्वी पर रहकर पृथ्वी का पालन करुँगा।[1]

इस रूप में इस सन्दर्भ में लोक रक्षा लौकिक धर्म है और इसी लोक धर्म से परलोक की प्राप्ति होती है। यहाँ पर ऐसा सङ्केत भी है।

१. त्वं गतिः परमोदेव सर्वेषां न परमतप ।
वधाय देवशत्रूणां नृणां लोके मनः कुरुः।।
भयन्त्यजत् भद्रं वो हितार्थं युधिरावणम् ।
वत्स्यामि मानुसे लोके पालयन् पृथ्वीमिमाम् ।। वा.रा. (बाल) १५/२५–२९

एक दूसरा सङ्केत इस प्रकार का है कि श्रीराम ताडका के वध करने में सङ्कोच का अनुभव करते हैं किन्तु लोकहित के लिये स्त्री का वध उचित बताते हुये विश्वामित्र राम के इस कार्य को लोक धर्म बताते हैं। महाराज विश्वामित्र कहते हैं कि प्रजापालक नरेश को प्रजाजनों की रक्षा के लिये क्रूरतापूर्ण पापयुक्त और दोषपूर्ण कार्य भी करना चाहिए। जिनके ऊपर राज्य के पालन का भार है उनके लिये ऐसा करना लोकधर्म है। ताडका पापिनी है इसलिये इसका वध करना ही लोकधर्म है।[१]

वाल्मीकि रामायण में लोक धर्म के सम्पादन के सङ्केत और भी अनेक स्थानों पर प्राप्त हैं। जैसे कि ब्रह्माजी के द्वारा राजा भगीरथ की प्रशंसा करते हुये यह कहना कि राजन्! तुमने गङ्गा को भूतल पर लाने की प्रतिज्ञा पूर्ण कर ली। तुम्हारा यह कार्य ऐसा है जिससे तुम्हें इस लोक में उत्तम गति की प्राप्ति हुयी और बहुत बड़े यश के भागीदार बने। तुमने जो गङ्गा जी को पृथ्वी पर अवतरित किया, उससे तुमने ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लिया और साथ ही साथ ऐसा कार्य किया जो धर्म का आश्रय है।[२]

इस सन्दर्भ में हम यह देख सकते हैं कि भगीरथ के इस कार्य से ब्रह्मा जी प्रसन्न हुये क्योंकि राजा का यह कार्य स्वयं के लिये तथा अन्य जनों के लिये भी परलोक की प्राप्ति कराने वाला था। भगीरथ ने गङ्गा जल से जहाँ अपने पूर्वजों को लोकमुक्त किया था और उन्हें परलोक प्राप्त कराया था वहीं भगीरथ को लोकफल भी प्राप्त हुआ था क्योंकि उन्होंने आनन्द पूर्वक इस लोक में शासन किया था।

---

१. नृशंसमशृंस वा प्रजारक्षण कारषात् ।
पातकं व सदोषं व कर्तव्यं रक्षता सदा ।।
राज्यभारनियुक्तानमेषु धर्मः सनातनः ।
अधर्मो जहि काकुस्त्थ धर्मो हयस्यां न विद्यते ।। वा.रा. (बाल) २५/१८–१९

२. सा त्वया समतिक्रान्ता प्रतिज्ञा पुरुषर्षभः।
प्रोप्तोऽसि परमं लोके यशः परमसम्मतम् ।।
तच्च गङ्गावतरणं त्वया कृतमरिन्दम् ।
अनेन च भवान् प्राप्तो धर्मास्यायत्नं महत् ।। वा. रा. (बाल) ४४/१२–१३

लौकिक धर्मों के माध्यम से पारलौकिक सुख प्राप्त करने के सङ्केत वाल्मीकि रामायण में अनेक स्थानों पर किये गये हैं। जैसे कि महाराज दशरथ ने जब यज्ञ किया था तो उन्होंने इस यज्ञ के फलस्वरूप स्वर्ग प्राप्त किया था क्योंकि इस प्रकार का उल्लेख किया गया है जिसमें यह लिखा गया है कि उस यज्ञ का पुण्य फल पाकर राजा दशरथ के मन में परम प्रसन्नता का अनुभव हुआ था। जहाँ वह यज्ञ एक ओर सभी पापों को नष्ट करने वाला था वहीं दूसरी ओर वह राजा को स्वर्गलोक पहुँचाने वाला था।[१] एक दूसरे सन्दर्भ में भी इसी प्रकार का कथन किया गया है, जहाँ पर यह कहा गया है कि राजा सगर के पुत्रों को महात्मा कपिल के क्रोध ने भस्म कर दिया था। उस भस्मी को देखकर जब अंशुमान लौकिक जल से उन्हें तिलांजलि देना चाहते थे तब गरुण ने उनसे कहा था कि लौकिक जल से तिलाञ्जलि देने पर इनका उद्धार नहीं हुआ। हिमवान् की ज्येष्ठ पुत्री गङ्गा जी हैं इसलिये उन्हीं के जल से तर्पण करो और जिस समय लोक पावनी गङ्गा भस्म ढेर पर गिरकर उन साठ हजार राजकुमारों को अपने जल से आप्लावित करेंगी, उसी समय वे सभी स्वर्ग लोक में पहुँच जायेंगे। लोकों को पावन करने वाली गङ्गा का जल ऐसा पवित्र होता है जो प्राणी को पारलौकिक धर्म में प्राप्त करा देता है।[२]

....

१. ततः प्रीतमनाराजा प्राप्य यज्ञमनुत्तमम् ।
पापामहं स्वनयनं दुष्तरं पार्थिवर्षभैः ।। वा. रा. (बाल) १४/५७

२. भस्मरासीकृतानेतां प्लावयेल्लोकपावनी ।
तपा क्लिन्नमिदं भस्म गङ्गया लोककान्तयः ।।
षष्टि पुत्रसहस्राणि स्वर्गलोकं गमिष्यति ।। वा. रा. (बाल) ४१/२०

गड्.ग अवतरण के कार्य को महर्षि वाल्मीकि ने लोक पावन कार्य माना है और यह सड्.केत किया है कि जो भी ऐसे लोक पावन कार्य करता है वह ब्रह्मलोक पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। ऐसे ही कार्य लोक में धर्म के आश्रय हैं और ऐसे ही कार्यों के द्वारा पारलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है।[१]

एक स्थान पर इस प्रकार का वर्णन किया गया है जिसमें पति और पत्नी के सम्बन्धों का कथन किया गया है। पत्नी के लिये यह वर्णन किया गया है कि पति ही उसके लिये परम आदरणीय है। जो सत्य, सदाचार, शास्त्रों की आज्ञा और कुलोचित मर्यादाओं में स्थित रहती हैं उन साध्वी स्त्रियों के लिये एकमात्र पति ही श्रेष्ठ देवता होता है।[२]

इसी प्रकार से इस वर्णन के क्रम में यहाँ तक कहा गया है कि स्त्री के जीवन में पिता, भ्राता और पुत्र अत्यधिक सुख प्रदान करने वाले होते हैं। अर्थात् अपने सम्पूर्ण जीवन में स्त्री, पिता, भ्राता और पुत्र से आश्रय प्राप्त करती है और इन सभी के आश्रय से वह सबल होकर अपने जीवन में सुख भी प्राप्त करती है। महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है कि इन सबके होते हुये भी पतिविहीना होने पर स्त्री की कोई गति नहीं है। इसलिये जो स्त्री अपने पति की सेवा सम्पूर्णता के साथ करती है वह इस लोक में और परलोक में परम कल्याण की भागीदार होती है। अर्थात् वह पति सेवा से इस लोक का और परम लोक का कल्याण प्राप्त करती है। इस रूप में पति सेवा स्त्री के लिये इस लोक का लौकिक धर्म है तो परलोक में कल्याण प्राप्त कराने का हेतु होने से पारलौकिक धर्म भी है।[३]

१. वा. रा. (बाल) ४४/१३
२. साध्वीनां तु स्थितानां तु शीले सत्येश्रुतेस्थिते ।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेकोविशिष्यते ।। वा. रा. (अयो.) ३९/२४
३. मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ।। वा. रा. (अयो.) ३९/३०

(य) पिता, माता, पति तथा पत्नी धर्म

वाल्मीकि रामायण के जिस रघुवंश के परिवार की कथा प्रस्तुत की गयी है वह परिवार ऐसा आदर्श परिवार है जिसके सभी सदस्य अपने–अपने कर्तव्य रूप धर्म का पालन करते हैं। महाराज दशरथ एक ऐसे राजा हैं जो अपनी प्रजा का पालन इस प्रकार से करता है जैसे कोई अपने पुत्रों का पालन करता है। महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है कि महाराज दशरथ के राज्य में वहाँ की प्रजा उनसे बहुत प्रेम करती थी। वे अपने प्रजाजनों को इसी तरह से देखते थे जैसे कि कोई अपने पुत्रों को देखता है।

राजा दशरथ ने वृद्धावस्था में पहुँचकर चार पुत्र प्राप्त किये थे इसलिये यह स्वाभाविक था कि उनका स्नेह अपने पुत्रों के प्रति अधिक मात्रा में था। इसलिये जब विश्वामित्र राक्षसों के विनाश के लिये राम को मारने के लिये आये तो उन्होंने लगभग चेतनाहीन की अवस्था में यह कहा कि महाराज! मेरी अवस्था साठ हजार वर्ष की हो गयी है। इसलिये मेरा आपसे यह अनुरोध है कि इस अवस्था में आप मेरे इस पुत्र को मत ले जाइये। पुत्र–स्नेह की इस अवस्था में जब इनके आचार्य वशिष्ठ ने उन्हें यह कहा कि महाराज! आप इक्क्ष्वाकु वंशी राजाओं में धर्म के समान उत्पन्न हुये हैं, धैर्यवान् है, उत्तम व्रत के पालक हैं और श्री सम्पन्न हैं इसलिये आपको धर्म का परित्याग नहीं करना चाहिये।[१] तब यह सुनकर दशरथ श्रीराम को विश्वामित्र के साथ राम को भेजने के लिये तैयार हो गये और इस रूप में उन्होंने पिता के स्नेह की रक्षा करते हुये भी ऐसा व्यवहार किया जो एक श्रेष्ठ पिता के द्वारा करने योग्य होता है।

१. इक्क्ष्वाकुणां कुले जातः साक्षात् धर्म युवापरः ।
धृतिमा सुव्रतः श्रीमान् न धर्मं हातुर्मर्हसि ।। वा. रा. (बाल) २१/६

दूसरे स्थान पर एक सन्दर्भ ऐसा है जब कैकेयी ने राम का वनवासन किया। उस समय यदि दशरथ चाहते तो कैकेयी को दिये हुये वचन वापस ले सकते थे किन्तु उन्होंने वहाँ पर पितृमोह का प्रदर्शन भी किया और आदर्श व्यक्ति का प्रदर्शन भी किया। कैकेयी से उन्होंने प्रस्ताव किया कि भरत चौदह वर्ष तक राज्य कार्य करें किन्तु श्रीराम वन न जायें और इस रूप में तुम्हारे पुत्र को राज्य प्राप्त हो जाये। किन्तु कैकेयी ने यह स्वीकार नहीं किया और राजा को आदर्श पुरुष के रूप में कैकेयी के वरदान देने पड़े। यह उनका एक ऐसे पिता का रूप था जो पुत्रों के समक्ष आदर्श वाला रूप था।

पिता के रूप में रावण का रूप भी देखने को प्राप्त होता है। वह एक ऐसा पिता है जो अनीति पर चलता हुआ न केवल अपने पुत्रों को अपितु सम्पूर्ण लंका के लोगों को युद्ध में झोंक देता है। वह यह विचार नहीं करता कि उसके द्वारा किया गया कार्य उचित नहीं है और उसे ऐसा नहीं करना चाहिए।

माता के रूप में कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा तीन मातायें वाल्मीकि रामायण में दृष्टिगत हैं। कैकेयी यद्यपि अपने पुत्र भरत के लिये जब राज्य की याचना करती है तो वह अवश्य एक ऐसी माता के रूप में दिखायी देती है जो अपने पुत्र को अत्यधिक मात्रा में चाहती है और उसे राज्य प्राप्त हो जाये इसके लिये वह ऐसा वरदान मांगती है जो अपने सौत के पुत्र के विपरीत है। तत्कालीन समय में चलने वाली राज्य परम्परा में यह विधान था कि राजा के सभी पुत्रों में से जो ज्येष्ठ होता था उसे ही राज्य कार्य दिया जाता था और वही राज्य का उत्तराधिकारी होता था किन्तु कैकेयी ने अपने पुत्र स्नेह में बंधकर के न केवल भरत के लिये राज्य मांगा अपितु माता का वह रूप प्रदर्शित किया जो किसी भी प्रकार से उचित नहीं कहा जा सकता इसीलिये वह साहित्य परम्परा में कलंकित हुयी।

जब राम का वन गमन हुआ और वे वन के लिये जाने लगे तब इसकी सूचना श्रीराम की माता कौशल्या को प्राप्त हुयी। उन्होंने अपने पुत्र राम से यह कहा कि पुत्र रूप में यदि तुम्हारा जन्म मेरे यहाँ नहीं हुआ होता तो मैं केवल इसी बात से दु:खी रहती कि मेरे कोई पुत्र नहीं है किन्तु आज जो दु:ख मुझे देखने को मिल रहा है वह बन्ध्या रहते हुये देखने को न मिलता।[१] इसी तरह उन्होंने अपनी यह स्थिति भी पुत्र के साथ व्यक्त की थी कि मुझे अपने पति की ओर से सदा ही तिरस्कार प्राप्त हुआ है और मेरी अवस्था सदा ऐसी रही है जैसे कि मैं परिवार की छोटी रानी कैकेयी के सामने और अधिक छोटी होऊँ। इस रूप में कौशल्या अपने पत्नीत्व के दु:ख को व्यक्त करती है और राम को सम्बोधित करती हुयी कहती हैं कि पत्नी के लिये इससे बड़ा दु:ख क्या हो सकता है कि उसे पति के द्वारा तिरस्कार भोगना पड़े और जो अधिकार उसका है वह उसे न प्राप्त हो।[२]

महाराज दशरथ यद्यपि राजपरम्परा के अनुसार एक से अधिक विवाह करके एक पत्नीव्रत का पालन तो नहीं कर सके थे किन्तु वे एक ऐसे पति थे जो सभी पत्नियों को समान रूप से आदर करते थे। उन्होंने कैकेयी को दु:खित देखकर कहा था कि मैं और मेरे सेवक सभी तुम्हारे अधीन हैं, मैं किसी भी स्थिति में तुम्हारी आज्ञा को भङ्ग नहीं कर सकता। महाराज दशरथ ने यहाँ तक कहा था कि इसके लिये चाहे मुझे अपने प्राणों को बलि देना पड़े अथवा कुछ भी करना पड़े मैं उसे अवश्य पूरा करुँगा। जहाँ तक सूर्य का चक्र घूमता है वहाँ तक मेरा राज्य है। इसलिये उतना सब देने में मुझे कोई सङ्कोच नहीं है। इस रूप में महाराज दशरथ एक आदर्श पति के रूप में दिखायी देते हैं।[३]

---

१. यदि पुत्र न जायेथा ममशोकाय राघव ।
न स्म दु:खमतोभूय: पश्येयमहमप्रज: ।। वा.रा. (अयो.) २९/३९

२. अत्यन्तं निगृहीतास्मि भरतुर्नित्यमसम्मता ।
परिवारेण कैकेया: सभा: वाप्यथावावरा ।।
सा बहन्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम् ।
अहं श्रोष्ये स पत्नीनां वराणां परा सती ।। वही, २०/३९,४२

३. वही १०/३४—३८

पति—पत्नी के रूप में श्रीराम और सीता भी आदर्श रूप में दिखायी देती हैं। जब राम का वनगमन होता है तो सीता भी राम के साथ जाने के लिये तैयार हो जाती हैं। सीता ने जब वह देखा कि श्रीराम ने वन में धारण करने योग्य वल्कल वस्त्र धारण कर लिये हैं तो उन्होंने भी वल्कल वस्त्र पहन लिये। इस पर परिजनों ने और गुरु वशिष्ठ आदि ने सीता को समझाने का प्रयत्न किया किन्तु सीता इसके लिये तैयार नहीं हुयी और वे अपने पति के साथ जाने के लिये तैयार हो गयीं। कौशल्या ने सीता को पतिव्रत धर्म का उपदेश किया और यह कहा कि तुम सदा अपने पति राम का अनुसरण करना। इस पर सीता ने कहा कि जैसे चन्द्रमा से उसकी चन्द्रिका दूर नहीं हो सकती उसी तरह से मैं राम से पृथक् नहीं हो सकती और बिना पहियों के रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार से सौ बेटों के होने पर भी पति के बिना पत्नी प्रसन्न नहीं रह सकती।[१]

अरण्य में भ्रमण करते हुये जब रावण ने सीता का हरण किया था तो उस समय श्रीराम बहुत अधिक व्यथित हुये थे। तो उस व्यथा से व्यथित होकर अपनी पत्नी के प्रति अपनत्व व्यक्त करते हुये श्रीराम ने लक्ष्मण से कहा था कि यदि सीता जीवित होगी तभी मैं अपने आश्रम में पैर रखूँगा। यदि सदाचरण का पालन करने वाली सीता ने प्राण त्याग कर दिया होगा तो मैं भी किसी तरह से जीवित नहीं रहूँगा और किसी भी तरह से अपने प्राणों का परित्याग कर दूँगा। इस स्थिति में राम ने एक आदर्श पति के रूप में अपना स्वरूप व्यक्त किया था।[२]

१. नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो बिधतो रथः ।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शताम्मजः ॥
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥ वा. रा. (अयो.) ३९/२९—३०

२. यदि जीवति वैदेहि गमिष्यामाश्रमं पुनः ।
संवृतायदि वृत्तासा प्राणास्त्यक्षान्न लक्ष्मण ॥ वा. रा. (अरण्य) ५८/९

इस महाकाव्य में जहाँ हम यह देखते हैं कि माता–पिता, पति–पत्नी अपने श्रेष्ठ आचरण से एक आदर्श व्यवहार का कथन करते हैं वहीं दूसरी ओर हम भाईयों के आचार–धर्म को भी देख सकते हैं। श्रीराम ज्येष्ठ हैं और दूसरे तीनों भाई कनिष्ठ हैं। श्रीराम अपने छोटे भाईयों को बहुत अधिक स्नेह करते हैं और इसीलिये जब कैकेयी की जिद से राम को वन दिया जाता है और इससे पिता दशरथ को कष्ट होता है तो श्रीराम कहते हैं कि भरत को राज्य मिले यह उनके लिये प्रसन्नता की बात है। वे कैकेयी के समक्ष यह कहते हैं कि मैं आपकी आज्ञा का पालन करुँगा। मैं ऐसा प्रयत्न करुँगा कि भरत राज्य के उत्तराधिकारी बन जायें और निरन्तर पिता की सेवा करें। इस रूप में श्रीराम एक आदर्श भाई के रूप में स्वयं को व्यक्त करते हैं।[१]

इसी तरह जब लक्ष्मण को यह ज्ञात होता है कि उनके अग्रज को राज्याधिकार से वञ्चित कर दिया गया है तो वे भी व्यथित होते हैं। वे क्रोधावेश में अपने पिता को भी कुछ अन्यथा वचन कहते हैं और यह चाहते हैं कि मैं धनुष लेकर युद्ध करुँगा और राज्य का अधिकारी इन्हें बनाऊँगा। वे इतने अधिक भ्रातृभक्त हैं कि वे माता कौशल्या से कहते हैं कि श्रीराम यदि जलती हुयी अग्नि में प्रवेश करेंगे अथवा घोर वन में प्रवेश करेंगे तो मैं इनसे पहले अग्नि या वन में प्रवेश कर जाऊँगा।[२]

इस रूप में हम राम का व्यवहार और लक्ष्मण का व्यवहार ऐसा देखते हैं जो आदर्श–व्यवहार है और भाईयों के बीच में चलने वाला ऐसा भ्रातृ धर्म है जिसका आदर्श स्वरूप सभी के लिये वरेण्य है।

---

१. भरतः पालयेत् राज्यं शुश्रुषेच पितुर्यथा ।
तथा भवत्यः कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ।। वा. रा. (अयो.) १९/२६

२. दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति ।
प्रविष्टं तत्र मां वेग त्वं पूर्वमवधारय ।। वा. रा. (अयो.) २१/७०

भरत का भ्रातृ—प्रेम और राम के प्रति उनके मन का भाव भाई—भाई के प्रेम का अनूठा उदाहरण है। वे जब अपने ननिहाल से लौटकर आते हैं और उन्हें जब इस बात का ज्ञान होता है कि माँ के कारण ही श्रीराम को वनवास दिया गया है तो वे कैकेयी के प्रति क्रोध करते हैं। वे यह कहते हैं कि तुझको यह पता नहीं था कि श्रीराम के प्रति मेरे मन में कैसा भाव है इसलिये तूने राज्य के लिये यह अनर्थ कर दिया। मैं बिना राम और लक्ष्मण के भला किस प्रकार से राज्य की रक्षा कर सकता हूँ। मेरे लिये राम से बढ़कर और कोई नहीं है और मैं वन जाकर उन्हें लौटा लाऊँगा तथा उनका दास बनकर स्वस्थ चित्त से अपना जीवन व्यतीत करुँगा।

जब भरत वन में श्रीराम की पर्णशाला को देखते हैं तो वे उनकी उस स्थिति को देखकर बहुत अधिक कष्ट का अनुभव करते हैं। वे शोक में डूबकर आँसू बहाने लगते हैं और भय के उद्वेग से कहते हैं कि जो राजकुमार राजसभा में बैठकर और प्रजा तथा मन्त्रि वर्ग के द्वारा सेवा तथा सम्मान पाने वाले हैं वे यहाँ वन में पशुओं के द्वारा घिरे बैठे हैं। ऐसा विचार करते ही उनका गला रुध गया और फिर वे वेदना से भर उठे। भरत की तरह ही शत्रुघ्न ने भी दु:खी होकर श्रीराम के चरणों में प्रणाम किया। तब प्रेमभाव के वशीभूत होकर श्रीराम ने दोनों भाईयों को गले से लगा लिया और स्नेहपूर्वक उनका अभिनन्दन किया।[२]

इस प्रकार से भाईयों के स्नेह बन्धन को और परस्पर उनके स्नेह सम्बन्ध को देखकर यह कहा जा सकता है कि इस परिवार का यह स्वरूप आदर्श व्यवहार का स्वरूप है।

१. लुब्धाया: विदितोमन्ये न तेऽहं राघवं यथा ।
तथाध्यनर्थो राज्यार्थं त्वया नीतो महानयम् ।।
अहं हि पुरुषव्याघ्रावपश्यन् रामलक्ष्मणौ ।
केन शक्ति प्रभावेण राज्यं रक्षितुमुत्सहि ।।
xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx
निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजस: ।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मन: ।। वा.रा. ७३/१३—१४, २७

२. वही (अयो.) ९९ अध्याय

(र) निष्कर्ष

वाल्मीकि रामायण एक सामान्य महाकाव्य नहीं है। यह ऐसा महाकाव्य है जो बाद की महाकाव्य परम्परा का उत्स है। बाद के महाकाव्यों में अथवा अन्य काव्य ग्रन्थों में जहाँ भी राम के चरित्र को प्रस्तुत किया गया है वाल्मीकि रामायण उसके लिये आदर्श ग्रन्थ रहा है। इस महाकाव्य में जिस आदर्श परिवार को चुना गया है और जिसका कथानक इसमें संकलित है वह परिवार भी एक सामान्य परिवार नहीं है और उसके नायक राम लौकिक रूप में एक राजपुरुष हैं जबकि अलौकिक रूप में वे ब्रह्म के अवतार हैं और त्रिभुवन की उत्पत्ति के हेतु हैं।

दूसरी ओर हम यह देखते हैं कि रावण एक समर्थ सम्राट् है जिसे तपस्या के बल पर अनेकानेक शक्तियाँ प्राप्त हैं। वह इतना अधिक बलशाली है कि उसके सामने खड़े होने में देवता भी असमर्थ हैं और त्रैलोक्य में ऐसा कोई नहीं है जो उसे चिनौती दे सके। वह यद्यपि विद्वान् है और वेदों का ज्ञाता है तथापि वह सांस्कृतिक दृष्टि से अपना जीवन यापन करने में विश्वास नहीं करता। वह नैतिक आचरण से बंधा हुआ नहीं है और न ही उसके मन में किसी प्रकार से नीति के पथ पर चलने का आग्रह है। वह अन्यायी है, साहसी है और दुराग्रही है इसी से वह सीता का हरण करता है और किसी की भी बात इस रूप में नहीं मानता जिसमें उसे सीता को वापस करना पड़े।

वाल्मीकि रामायण में इन दोनों के चरित्र को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है जिसमें यह फलश्रुति है कि सभी प्रकार की शक्ति सम्पन्नता होने पर भी रावण इसलिये पराजित हो जाता है कि वह नैतिक नियमों पर विश्वास नहीं करता है। रावण के पास अनन्त सेना है। मेघनाद और कुम्भकरण जैसे सेनानी है जो इन्द्रादि को पराजय करने में सक्षम हैं। जबकि राम ऐसे रावण पर भी अपनी नैतिकता के बल पर विजय प्रस्तुत करते हैं। यही इस महाकाव्य का सङ्केत है कि सांस्कृतिक जीवन ही अन्त में सफलता का द्योतक है।

उद्धृत ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ	विवरण
अभिज्ञान शाकुन्तलम्	ग्रन्थम, कानपुर
अरस्तु की राजनीति	अनु० भोलानाथ शर्मा उ०प्र० शासन, १९५६
आदि कवि वाल्मीकि	डॉ० राधाबल्लभ त्रिपाठी संस्कृत परिषद्, सागर वि०वि०
ईशादि द्वादशोपनिषद्	विद्यानन्द गिरि
ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थाट	डॉ० राधाकृष्णन्
ऋग्वेद	सायणभाष्य सहित
हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर	मैक्डॉनल मोतीलाल बनारसीदास, १९६०
ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर	कीथ आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, १९५६
ए हिस्ट्री ऑफ एन्शियण्ट संस्कृत लिटरेचर	मैक्समुलर चौखम्बा, १९६८
एन्शियण्ट इण्डियन हिस्ट्रारिकल ट्रेडीशन	मोतीलाल बनारसीदास १९६२
ए मैनुअल ऑफ इण्डिया	डॉ० जे०एस० सिन्हा
कठोपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर

काव्य प्रकाश	ज्ञान मण्डल लि०सि० वाराणसी, १९६०
कौटिल्य अर्थशास्त्र	आचार्य कौटिल्य
गौतम धर्मसूत्र	
चेन्जिंग कान्सेण्ट ऑफ कास्ट इन इण्डिया	सन्तोखसिंह अनन्त विकास पब्लिकेशन, १९७२
छान्दोग्योपनिषद्	गीता प्रेस
तैत्तरीयपनिषद्	गीता प्रेस
दशरूपकम्	सं० डॉ० श्री निवास शास्त्री साहित्य भण्डार, मेरठ
द हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर	ए० बेवर चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९६१
धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)	अनु० श्री अर्जुन चौबे हिन्दी समिति सूचना विभाग
नाट्य शास्त्र	आचार्य भरत
नीति दर्शन की पूर्वयोठिका	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९८२
प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिक	डॉ० रामजी उपाध्याय देव भारती प्रकाशन इलाहाबाद, १९६७

बुद्धचरितम्	आचार्य अश्वघोष
भगवद्गीता	गीता प्रेस
भट्टि महाकाव्य	महाकवि भट्टि
भारतीय नीतिशास्त्र	बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९८२
भागवत महापुराण	गीता प्रेस
भारतीय नीति का विकास	डॉ० राजबल्ली पाण्डेय बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना
भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास	हिन्दी समिति सूचना विभाग १९८४
मनु स्मृति	संस्कृति संस्थान, मथुरा
महाभारत	गीता प्रेस, गोरखपुर
महाभारत में शान्ति पर्व का आलोचनात्मक अध्यन	ईस्टर्न बुक लिंकर्स १९८४
महाकाव्य युग में लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा	डॉ० नन्दिनी दीक्षित राधा पब्लिकेशन्स, नईदिल्ली १९९२
मुण्डकोपनिषद्	गीता प्रेस
मैनुअल ऑफ एथिक्स	प्रो० मेकेञ्जी

यजुर्वेद	संस्कृति संस्थान, बरेली
रामायण कालीन समाज	शा० ना० व्यास साहित्य प्रकाशन,नईदिल्ली १९५८
द लाइफ डिवायन	महर्षि अरविन्द
व्यास स्मृति	ए०ए० फ्यूहर
वशिष्ठ धर्मसूत्र	पूना प्रकाशन, १९०५
महर्षि वाल्मीकि	डॉ० जानकीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थम्, कानपुर, १९८५
वाल्मीकि रामायण	गीता प्रेस, गोरखपुर वि०सं० २०२५
वेदकालीन राज्य व्यवसाय	सूचना विभाग, लख० १९७१
संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी कटरा रोड, इलाहाबाद सन् २०००
संस्कृत शब्दकौस्तुभ	रामनारायणलाल बेनीप्रसाद १९७७
संस्कृत साहित्य का इतिहास	डॉ० दयाशंकर शास्त्री भारतीय प्रकाशन कानपुर, १९७८
साहित्य दर्पण	श्री नवल किशोर प्रणीत प्रभालंकृत

विनोबा भावे

सूर्य सिद्धान्त — बलदेव मिश्र
गंगा विष्णु श्रीकृष्णदास
वि० २०१२

शुक्रनीतिसार

हिन्दी विश्वकोष (प्रथम खण्ड) — राजकमल प्रकाशन

हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर — मैक्डॉनल
मोतीलाल बनारसीदास, १९६२

हिन्दू सभ्यता — डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी

हिन्दू पालिटी — बंगलोर प्रिंटिंग कम्पनी
१९५५

हिन्दू पालिटी तृतीय भाग — के०पी० जायसवाल
बंगलोर, प्रिंटिंग प्रेस
१९५५